आगम नवनीत माला

पुष्प–२

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं
एसो पंच णमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥

आचारांग–सूत्र सारांश

(एवं सम्यक् पराक्रम अध्ययन)

[सरल हिन्दी भाषा में]

श्रीमती नगीनादेवी, 2258 गली अनार, दरीबा कला, चांदनीचौक दिल्ली हस्ते श्री जिनेन्द्रकुमारजी एडवोकेट के उदार सहयोग से स्वाध्यायियों को अर्द्ध मूल्य में भेंट।

प्रकाशक-

आगम नवनीत प्रकाशन समिति सिरोही

व्यवस्थापक:--

पुखराज जैन--बग्गीखाना विद्यालय के सामने
पेलेस रोड, सिरोही

संपादक--भंवरलाल बाफणा--खीचन

पुस्तक प्राप्ति स्थान

466 P.P.

१ पुखराजजी जैन
C/० पंजाब नेशनल बैंक
सिरोही-३०७००१ (राज.)

२ श्रीराजेन्द्रकुमारजी मेहता
मै० जैन क्लेक्सन
चाचा म्यूजियम के सामने
आबू पर्वत-३०७५०१

३ श्रीप्रेमराजजी सुराणा
आसोप की हवेली के सामने
पोस्ट जोधपुर-३४२००१ (राज.)

४ भंवरलालजी बाफणा
पोस्ट खीचन-३४२३०८
जि० जोधपुर (राज०)

मूल्य : पांच रुपया

संवत् : २०४७ अक्षय तृतीय

प्रति संख्या --२०००

मुद्रक:-ललित जैन
गौतम आर्ट प्रिन्टर्स,
नेहरू गेट के बाहर,
ब्यावर (राज०)

आचारांग सूत्र

यह सूत्र गणधर सुधर्मा कृत द्वादशांगी में प्रथम सूत्र है। इसमें दो श्रुत स्कन्ध (विभाग) है। प्रथम विभाग में नव अध्ययन कहे गए हैं। जिनमें सातवें अध्ययन के अतिरिक्त आठ अध्ययन उपलब्ध है। प्रत्येक अध्ययन में अनेक-अनेक उद्देशक है। जिसमें संसार से विरक्ति, संयम पालन में उत्साह और कर्मों से लोहा लेने की क्षमता-वृद्धि को बल देने वाले संक्षिप्त शिक्षा वचन एवं प्रेरणा वचन कहे गए हैं। अंतिम ९ वें अध्ययन में भगवान् महावीर स्वामी का संयम पालन और कष्ट मय उनेक छद्मस्थ काल का संक्षिप्त परिचय है जो साधक के हृदय में विवेक एवं वीरता जागृत करने वाले आदर्श के रूप में उपस्थित किया गया हैं।

द्वितीय श्रुत स्कन्ध में संयम आराधन करने में जीवन के आवश्यक पदार्थ आहार-विहार, शय्या, उपधि आदि के विवेकों का विधान विधि एवं निषेध वाक्यों में किया गया है। भाषा आदि अन्य विषयों का विवेक भी है। अन्त में २५ भावना सहित ५ महाव्रत स्वरूप बताने के साथ भगवान् महावीर स्वामी की दीक्षा के पूर्व का तथा दीक्षा का एवं केवलज्ञान प्राप्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उसके बाद उपदेशी उपमा युक्त १२ गाथा मय छोटा-सा विमुक्ति नामक अध्ययन हैं।

इस प्रकार इस पूरे सूत्र का विषय है संयम में उत्साहित करना एवं उसके पालन में सार्वत्रिक विवेक जागृत करना।

प्रथम अध्ययन का सारांशः-

प्रथम उद्देशकः-

(१) पूर्व भव का स्मरण और आगे के भव की जानकारी तथा आत्म स्वरूप का ज्ञान अधिकांश जीवों में नहीं होता हैं। विशिष्ट ज्ञान होने पर या विशिष्ट ज्ञानी के माध्यम से किसी-किसी को उन अवस्थाओं का ज्ञान हो सकता है।

(२) आत्म स्वरूप का ज्ञाता ही लोक स्वरूप, कर्म स्वरूप, और क्रियाओं के स्वरूप का ज्ञाता होता है।

(३) क्रियाएं तीन करण, तीन योग और तीन काल के संयोग से २७ प्रकार की कही गई है।

(४) कर्म बन्ध की कारण भूत क्रियाओं को जीव इन कारणों से करते हैं-१. जीवन निर्वाह करने के लिए, २. यश-कीर्ति, पूजा, प्रतिष्ठा, मान-सन्मान के लिए, ३. आई हुई आपत्ति-दुःख या रोग का निवारण करने के लिए।

(५) कई जीव मोक्ष प्राप्ति के लिए अर्थात् धर्म हेतु भी कर्म बन्ध की क्रियाएं करते हैं।

(६) इन क्रियाओं का त्यागी ही वास्तव में मुनि है।

उद्देशक २ से ७ तकः-

इन छः उद्देशकों में क्रमशः पृथ्वीकाय आदि छः कायों का अस्तित्व एवं उनकी विराधना का स्वरूप और विराधना के त्याग की प्रतिज्ञा का कथन किया गया है। कुछ विशेष विषय इस प्रकार है—

(१) सांसारिक प्राणी उपरोक्त कारणों से छ काय जीवों की आरम्भ जनक क्रियाएं करते हैं। वे सभी आरम्भ जनक क्रियाएं उनके अहितकर और अबोधि रूप फलदायक होती है अर्थात्

संसार हेतु अथवा धर्म हेतु भी इन छ कायों का विनाश करने से सुख की जगह अहित और अबोधि की ही प्राप्ति होती है। यह वाक्यांश सभी (७) उद्देशों में दुहराया गया हैं।

(२) एकेन्द्रिय जीवों के दुःख को उपमा द्वारा समझाया गया हैं-१. अन्धे एवं अंगोपांग हीन व्यक्ति को मारने पर, २. किसी व्यक्ति के अवयवों का छेदन-भेदन करने पर, ३. किसी को एक ही प्रहार से मार देने पर, उन्हें वेदना होना जिस प्रकार हमारी आत्मा स्वीकार करती हैं, उसी प्रकार स्थावर जीवों को भी वेदना तो होती ही है किन्तु वे व्यक्त नहीं कर सकते।

(३) अणगार सदा सरल-माया रहित स्वभाव एवं आचरण वाला होता हैं।

(४) भिक्षु जिस उत्साह और लक्ष्य से संयम ग्रहण करें, तदनुसार ही जीवन पर्यन्त पालन करें। लक्ष्य परिवर्तन या उत्साह परिवर्तन रूप सभी बाधाओं को ज्ञान एवं वैराग्य के द्वारा विवेक के साथ दूर करते हुए साधना करें।

(५) एकेन्द्रिय जीवों के अस्तित्व की श्रद्धा करें किन्तु अपलाप न करें। इनका अपलाप करने पर स्वयं के अस्तित्व का अपलाप होता है जो कि स्पष्ट ही असत्य है।

(६) बाह्य व्यवहार के अनेक चेतना लक्षण मनुष्य के समान ही वनस्पति में भी पाए जाते हैं जिसमें से नव समान धर्म पांचवें उद्देशक में कहे हैं।

(७) त्रस जीवों के शरीर एवं अवयवों की अपेक्षा १८ पदार्थ प्राप्ति हेतु लोग उनकी हिंसा करते हैं और कई लोग केवल वैर भाव से या निरर्थक अथवा भय के कारण भी उनकी हिंसा करते हैं।

(८) छ काया में वायुकाय ही हमारे लिए चक्षु ग्राह्य नहीं है अन्य कायों की अपेक्षा इसकी विराधना का सम्पूर्ण त्याग करना अत्यधिक दुःशक्य है अतः इसका कथन अन्त में किया गया है।

(९) इन छ कायों का उक्त स्वरूप समझकर जो इनकी विराधना का त्याग एवं उसका पालन नहीं करता है वह कर्म संग की वृद्धि करता है।

दूसरे अध्ययन का सारांशः-

प्रथम उद्देशकः-

(१) शब्द रूप गन्ध रस और स्पर्श की चाहना, प्राप्ति, और आशक्ति युक्त उपभोग ही संसार की जड़ हैं।

(२) इनमें आसक्त जीव संसारिक संबंधियों के मोह की वृद्धि कर उनके लिए रात-दिन अनेक दुःखों से धन और कर्मों का उपार्जन कर संसार वृद्धि करता है।

(३) शरीर की शक्ति, इन्द्रियों का तेज और पुण्य के क्षीण हो जाने पर अथवा वृद्धावस्था आ जाने पर इस जीव की बड़ी ही दुर्दशा होती है और वह स्वयं के कर्मों के अनुसार दुःखी हो जाता है।

(४) धन-योवन अस्थिर है। सम्पूर्ण संसार के संग्रहित पदार्थ भी छोड़कर जाना पड़ेगा। उस समय ये पदार्थ दुःख व मौत से मुक्त नहीं कर सकेंगे।

(५) अतः अवसर को समझकर इस मनुष्य भव में इन्द्रिय शरीर की स्वस्थता रहते हुए ही जागृत होकर आत्म अर्थ की सिद्धी हस्तगत कर लेनी चाहिए।

द्वितीय उद्देशकः-

(१) साधना काल में परिषह, उपसर्ग, लोभ, कामनाएं

आदि कई परिस्थितियां आती है, उसमें सम्भल कर रहना चाहिए। सदा सांसारिक जीवों की दुर्दशा के चिन्तन को आत्म भाव में उपस्थित रखना चाहिए।

(२) सांसारिक जीव अनेक हेतुओं से एवं लोगों को अपना बनाने के लिए पाप करते रहते हैं किन्तु अन्त में वे असहाय होकर कर्म वश से दुर्गति प्राप्त कर उभय लोक बिगाड़ते हैं।

तृतीय उद्देशकः—

(१) सभी जीवात्मा समान है अतः कभी भी गोत्र आदि का गर्व नहीं करना तथा हर्ष एवं क्रोध भी नहीं करना चाहिए।

(३) अन्धे, बहरे आदि जीवों के प्रति हीन भाव न करके आत्मसम व्यवहार करना।

(३) कई प्राणी भोग विलास ऐश्वर्य को ही सब कुछ मानते हैं। किन्तु इसके विपरीत कई आत्म हितैशी अणगार जन्म मरण को और जीवन की क्षण भंगुरता को जानते हैं एवं प्रत्येक प्राणी को अपने—अपने प्राण प्रिय होते हैं ऐसा भी वे समझते हैं।

(४) अपने सुख के लिए प्राणियों का विनाश करना या धन का संग्रह करना आत्मा के लिए अहितकारी है।

(५) प्राप्त धन के विनाश की भी अनेक [६] अवस्थाएं होती हैं।

(६) धन संग्रही जीव संसार सागर को पार नहीं कर सकता। यह जानकर पण्डित पुरूष संयम प्राप्त करे एवं उसकी भगवदाज्ञानुसार आराधना करें।

चतुर्थ उद्देशकः—

(१) रोगोत्पत्ति हो जाने पर धन एवं परिवार के होते हुए भी स्वयं का दुःख स्वयं को ही भुगतना पड़ता है।

(२) आशाएं और स्वछन्द बुद्धि के आचरण ही दुःख के मूल हैं। इनका त्यागकर कर्म शल्य से मुक्त होना चाहिए।

(३) अधिकांश जीव स्त्री सेवन में आशक्त होकर उसी सुख को सब कुछ समझकर भव भ्रमण एवं दुःख परम्परा की वृद्धि करते हैं। भगवान कहते हैं कि यही जीवों को महामोहित करने का एक सांसारिक केन्द्र हैं।

पांचवा उद्देशकः-

(१) मुनि को छोटे-बड़े सभी दोषों से रहित आहारादि की गवेषणा करते हुए उदर पूर्ति करना चाहिए। अपने लिए क्रय-विक्रय किए पदार्थ नहीं लेना, न ही क्रय-विक्रय सम्बन्धी गृहस्थ प्रवृत्ति में भाग लेना।

(२) भिक्षार्थ जाने वाला भिक्षु योग्य गुणों से सम्पन्न हो एवं लोभ आशक्ति से रहित रहे।

(३) रूप आदि में आशक्त न हो एवं काम भोगों के दारुण विपाक को समझकर सदा उन पर विजय प्राप्त करता हुआ विचरण करें।

(४) अन्दर-बाहर एक स्वभाव से रहे और शरीर के बाहर या भीतर सभी अशुचि पदार्थ भरे हैं इस चिन्तन की उपस्थिति से सदा विषय भोगों से विरक्त रहे।

(५) संसार के जीवों की माया, आशक्ति और आरम्भ प्रवृति को तथा उसके परिणाम-विपाक में प्राप्त दशाओं को देखकर एवं चिंतनकर के मुनि संयम में लीन रहे।

षष्ठम उद्देशकः-

(१) संयम स्वीकार करने के बाद किसी भी प्रकार के पाप कर्म का सेवन नहीं करना चाहिए। सुखार्थी, लोलुप साधक

कभी न कभी व्रतों की विराधना कर देता है एवं वह पश्चाताप और भव भ्रमण करता है।

(२) मेरा, मेरा-पन रूप कहीं भी किसी में भी जो ममत्व भाव है, उसका त्याग करना संयम साधना में नीतान्त आवश्यक हैं।

(३) वीर साधक कभी भी रति-अरति अर्थात् हर्ष-शोक नहीं करें।

(४) इन्द्रिय विषयों के प्रति और जीवन के प्रति सदा निर्वेद भाव रखे।

(५) जो अन्य को आत्मवत् देखता है वही महात्मा, परमात्मा, बन सकता है।

(६) गरीब या अमीर को समान भाव से अर्थात् रूचिपूर्वक धर्म कहे।

(७) श्रोता के कषाय वृद्धि और कर्म बन्ध नहीं होकर गुण वृद्धि हो ऐसी विचक्षणता से धर्मोपदेश करना चाहिए।

(८) साधक सदा लोकसंज्ञा का और हिंसादि पापों का सर्वथा त्याग करें।

तीसरे अध्ययन का सारांशः-

प्रथम उद्देशकः-

(१) मुनि सदा भावों से जागृत-सावधान रहता है।

(२) शब्दादि इन्द्रिय विषयों का परित्याग करने वाला ही वास्तव में आत्मार्थी, ज्ञानी, शास्त्रज्ञ, धर्मी, ब्रह्मचारी, मुनि और धर्मज्ञ हैं। परीषह उपसर्ग सहने वाला और हर्ष-शोक नहीं करने वाला ही निर्ग्रन्थ हैं।

(३) बुद्धिमान यह समझ ले कि सारे दुःख आरम्भ (पाप प्रवृति) से ही उत्पन्न होते हैं। माई (चार कषाय वाला) और प्रमादी (पापसेवी) ही दुर्गति में जाते हैं।

(४) शब्दादि विषयों में उपेक्षा भाव रखने वाला साधक मरण से मुक्त हो जाता है।

(५) हिंसादि पाप का परिपूर्ण ज्ञाता ही वास्तव में संयम का ज्ञाता है।

(६) संसार भ्रमण की सम्पूर्ण उपाधि, कर्मों से ही उत्पन्न होती है। और कर्मों का मूल हिंसा है।

(७) राग द्वेष न करते हुए एवं लोक संज्ञा (सांसारिक रुचि) का त्याग करते हुए संयम में पुरूषार्थ करना चाहिए।

द्वितीय उद्देशकः—

(१) परम धर्म को समझकर सम्यक् दृष्टि पाप कर्मों का उपार्जन नहीं करता है।

(२) काम भोगों में गृद्ध जीव कर्म संग्रह कर संसार भ्रमण करते हैं।

(३) कर्म विपाक का ज्ञाता मुनि पापकर्म नहीं करता है।

(४) सांसारिक प्राणी सुख के लिए जो पुरूषार्थ करते हैं वह चालणी को पानी से भरने के पुरूषार्थ के समान है।

(५) मुनि भौतिक सुख और स्त्री से विरक्त रहे।

(६) मुनि क्रोधादि कषायों और आश्रवों का त्यागी बने। मनुष्य भव रूपी अवसर को प्राप्तकर हिंसा का सर्वथा त्याग करें।

तृतीय उद्देशकः—

(१) दूसरों की लज्जा वश पाप कर्म नहीं करने में भाव संयम नहीं हैं। किन्तु परमज्ञानी कर्म सिद्धान्त एवं भगवदाज्ञा समझकर कभी प्रमाद न करें वैराग्य के द्वारा उदासीन वृतिपूर्वक अहिंसक बने।

(२) तत्वों की शुद्ध श्रद्धा रखकर कर्म क्षय करने में तत्पर बने।

(३) हास्य एवं हर्ष-शोक का सर्वथा त्याग करके गम्भीर बने।

(४) आत्म निग्रह कर एवं आत्मा को ही सच्चा मित्र समझकर सही पुरूषार्थ करने से दुःख संसार को पार किया जा सकता है।

(५) ज्ञानी साधक कभी भी मान पूजा, सत्कार का इच्छुक न बने और दुःख के पहाड़ आ जाने पर भी प्रसन्न मन रहे।

चतुर्थ उद्देशकः-

(१) सर्वज्ञ भगवान् का कथन है कि चारों कषायों का वमन कर देना चाहिए।

(२) प्रमादी को सर्वत्र भय रहता है अप्रमादी ही निर्भय रहता है।

(३) सांसारिक प्राणियों के दुःखों का अनुभव कर के वीर पुरूष सदा संयम में आगे ही बढ़ते है।

(४) एक-एक पाप का या अवगुण का सर्वथा त्याग करते रहने वाला पूर्ण त्यागी बन सकता है।

(५) क्रोधादि कषाय, राग, द्वेष एवं मोह का त्याग करना ही वास्तव में गर्भ, जन्म, नरक एवं तिर्यंच के दुःखों का त्याग करना है।

(६) वीतराग वाणी के अनुभव से जो सम्यग्दृष्टा बन जाता है उसके कोई उपाधि नहीं रहती है।

चौथे अध्ययन का सारांशः--

प्रथम उद्देशकः--

(१) धर्म का सार यही है कि किसी भी छोटे-बड़े प्राणी को किसी भी प्रकार से दुःख पीड़ा कष्ट नहीं देना-यह सर्वज्ञों की आज्ञा है। अर्थात्-सब जीव रक्षा यही परीक्षा धर्म उसको जानिए।

जहां होत हिंसा नहीं है संशय, अधर्म वहीं पहिचानिए।

समस्त प्राणियों के लिए भी यही धर्म है इसे जानकर कभी भी इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। किन्तु लोक रुचि का त्याग करना चाहिए।

(२) मनुष्य भव में भी यह ज्ञान और विवेक नहीं आया तो अन्यत्र तो आना सम्भव कैसे होगा।

(३) अतः धीर साधक अप्रमाद भाव से सदा यतना पूर्वक आचरण करे।

द्वितीय उद्देशकः—

(१) व्यक्ति के विवेक के द्वारा कर्म बंध के क्षण कर्म बंध के कार्य भी संवर निर्जरा एवं मोक्ष के हेतु भूत बन सकते हैं। इसी अपेक्षा से यह कहा जाता है कि—'विवेक में धर्म है।

(२) प्रत्येक प्राणी की मृत्यु निश्चित है। फिर भी इच्छाओं के वशीभूत हो असदाचरण द्वारा अज्ञानी जीव कर्मों का संचय करते है। क्रूर कर्मों से वे महादुःखी बन जाते हैं।

(३) कुछ मिथ्यावादी हिंसा में ही धर्म मानते हें।

(४) ज्ञानी उन्हें कहते हैं कि जब सुख अच्छा लगता है, दुःख अच्छा नहीं लगता है, तो दूसरे प्राणियों की भी यही मनो दशा है, यह स्पष्ट है। सभी जीव सुखी रहना चाहते हैं, दुःख सबके लिए महा भय प्रद है, तो अपने सुख के लिए दूसरों को दुःखी करना यह कभी भी धर्म नहीं हो सकता।

तृतीय उद्देशकः—

(१) जो संसारी लोगों की रुचिया-प्रवाह है, ज्ञानी उसकी उपेक्षा ही करता है अर्थात् स्वयं वैसा नहीं बनता है।

(२) दुःखों का मूल हिंसा या आरम्भ प्रवृत्ति ही है।

(३) भगवदाज्ञा पालक मुनि एकत्व भाव में लीन बनकर कर्म क्षय करने में पुरूषार्थ करें ।

(४) कर्म रूपी जीर्ण काष्ट को तप संयम रूपी अग्नि में शीघ्र भस्म कर देना चाहिए ।

(५) साधक को प्रत्येक धर्माचरण में आत्म समाधि की सुरक्षा का प्रमुख ध्यान रखना चाहिए ।

(६) क्षण भंगुर जीवन को जानकर और समस्त प्राणियों के दुःखों का अनुभव करके पंडित साधक कषायों और पापों का सर्वथा त्याग कर दें ।

चतुर्थ उद्देशकः—

(१) संयम और तप का आराधन सरल नहीं है । आत्म समाधि के साथ-साथ शरीर की सर्वस्व आहुति करने पर ही लक्ष्य की पुष्टि होती है । अतः साधक हर अवस्था में प्रसन्न रहना सीखे और शरीर के प्रति ममत्व-भाव का भी त्याग करें ।

(२) संयम में लीन रहते हुए खून मांस को सुखा डाले अर्थात् शरीर को कृश कर कर्मों की समाप्ति करे । वही वीर मुमुक्षु साधक है ।

(३) कर्मों का विचित्र फल जानकर उनसे मुक्त होने का सदा प्रयास करें ।

(४) सदा ऐसे ही त्यागी वीर पुरुषों का आदर्श सामने रख कर आत्म विकास करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

पांचवे अध्ययन का सारांशः—

प्रथम उद्देशकः—

(१) सांसारिक प्राणी प्रयोजना से या बिना प्रयोजन के भी जीवों का घातकर के फिर उसी योनियों में जाते है ।

(२) कामभोग जीव को भारी कर्मा बनाकर संसार के जन्म मरण में रखते हैं और मुक्ति से दूर करते हैं। वे प्राणी मोह से मूढ बन जाते हैं।

(३) चतुर कुशल पुरूष (साधक) विषय भोग का सेवन नहीं करते।

(४) रूपों में आशक्त बने कई जीव बारम्बार कष्ट पाते हैं।

(५) कई जीव आरंभ समारंभ में रमण करते हैं उसे ही शरण भूत समझते हैं। किन्तु वास्तव में वह आशरण भूत ही है।

(६) कई साधक स्वयं के कषायों एवं दुष्प्रवृति के कारण एकल विहारी होकर कपट आदि अवगुणों से मूढ बनकर धर्म से च्युत हो जाते हैं।

द्वितीय उद्देशकः—

(१) कई साधक मनुष्य भव को अमूल्य अवसर जानकर आरम्भ के त्यागी बनते है और सर्व शक्ति से संयम तप में तल्लीन बन जाते हैं।

(२) सर्वज्ञों का यही उपदेश है कि उठो ! प्रमाद न करो। जीवों के सुख दुःख को देखों और अहिंसक बनकर स्वयं की आपत्ति को धैर्य से पार करो।

(३) साधक यह सोचे कि पहले या पीछे कभी भी बंधे हुए कर्मों का कर्ज तो चुकाना ही होगा और शरीर भी तो एक दिन छोड़ना ही होगा।

(४) ऐसे आत्मार्थी चिन्तन शील ज्ञानी के लिए संसार मार्ग नहीं रहता है।

(५) परिग्रह महा भयदायक है, कर्म का बंध करानें वाला हैं, यह जानकर साधक सदा अपने भावों को परिग्रह एवं आरम्भ से मुक्त रखे।

(६) बंध और मोक्ष, भावों की प्रमुखता से ही होते हैं। अतः जीवन पर्यन्त अप्रमत्त भावों से संयम का आराधन करें।

तृतीय उद्देशकः—

(१) अनुपम अवसर प्राप्त हो जाने पर साधना काल में कभी भी अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए। संयम तप में वृद्धि ही करना किन्तु हानि कभी भी नहीं करना चाहिए।

(२) जिनाज्ञा का पालन न करने वाला साधक इस संसार में कहीं भी स्नेह न करें और युद्ध भी करे तो कर्मों से आभ्यन्तर युद्ध करें। कर्मों से युद्ध करने का यहीं अवसर है। अन्य भव में नहीं।

(३) कई साधक शब्दादि विषयों में फंस जाते हैं। किन्तु उन सबकी उपेक्षा करने वाला ही सच्चा ज्ञाता मुनि है।

कायर कपटी और इन्द्रिय विषयों में आशक्त व्यक्तियों से संयम आराधना शक्य नहीं है।

अतः संयम लेकर जो मुनि रूक्ष एवं सामान्य आहार का सेवन करते हैं वे ही कर्मों को परास्त कर मुक्त और तीर्ण होते हैं।

चतुर्थ उद्देशकः—

(१) अव्यक्त (अयोग्य) भिक्षुओं का एकल विहार असफल हो जाता है क्योंकि उनमें से कई साधक बारम्बार क्रोध और घमण्ड के वशीभूत बन जाते हैं और वे अनेक बाधाओं को पार करने में अक्षम होकर महादुःखी बन जाते हैं।

(२) ऐसे अपरिपक्व साधको को सदा गुरू सान्निध्य से संयम गुणों का एवं आत्म शक्ति का विकास करना चाहिए।

(३) शुद्ध संयम भावों के साथ विवेक युक्त प्रवृति में भी कभी हिंसादि हो जाए तो अल्प कर्म संग्रह होता है। जो शीघ्र ही

क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए सदा अप्रमाद भाव से विवेक-पूर्वक प्रवृति करनी चाहिए।

(४) साधक स्त्री परीषह से सदा सावधान रहे और कभी किसी कारण से ब्रह्मचर्य घातक परिणाम उत्पन्न हो जाए तो आहार त्याग या विहार आदि सूत्रोक्त क्रमिक साधना से आत्मा के उन दुष्परिणामों को दूर कर देना चाहिए।

(५) ये कामभोग आगे-पीछे अशान्ति-क्लेश के जनक है।

(६) संयम की सावधानी हेतु साधक को संयमी जीवन में विकथाएं, चक्षु इन्द्रिय के पोषण, गृहस्थ के प्रपंच, वाचालता आदि से दूर रहना चाहिए।

पंचम उद्देशकः-

(१) सर्व ओर से सुरक्षित निर्मल परिपूर्ण जल वाले हृद-द्रह के समान ही लोक में मुनि होते हैं।

(२) जिन वचनों की श्रद्धा के द्वारा उत्पन्न हुए संदेहों को दूर कर देना चाहिए।

(३) "जिनेश्वर भाषित सदा सत्य एवं निःशंक है" ऐसा दृढ विश्वास रखना चाहिए।

(४) सम्यग् अनुप्रेक्षण करने वाले के सभी प्रसंग सम्यक् हो जाते हैं।

(५) किसी को कष्ट देने के समय यह सोचना चाहिए कि इस जगह यदि मैं होउं तो कैसा अनुभव होगा' यह सोचकर तीनों करण से अहिंसक बने।

(६) आत्मा ही विज्ञाता और परमात्मा है। यह समझने वाला और सम्यक् आचरण करने वाला ही सच्चा आत्मवादी और सम्यक् संयमी है।

षष्ठ उद्देशकः–

(१) जिनाज्ञा में ही सदा प्रवृत्त होना चाहिए।

(२) मोक्षार्थी साधक इन्द्रियों से गुप्त होकर आगमानुसार ही पुरुषार्थ करें।

(३) संसार में सर्वत्र कर्म बंध के एवं भवभ्रमण के स्थान है। इन्हें आवर्त (चक्कर) जाने और इस जन्ममरण के चक्राकार मार्ग को पार करलें।

(४) परमात्म सिद्ध अवस्था स्वर, तर्क और मति से ग्राह्य नहीं हैं वहां आकार, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श भी नहीं है और न ही स्त्री पुरुष आदि अवस्था है। कर्म बंध भी नहीं है। केवल ज्ञाता दृष्ट अवस्था है। अतः उसकी कोई उपमा भी नहीं है।

छट्ठे अध्ययन का सारांशः––

प्रथम उद्देशकः–

(१) जिसे ये सर्व जम्म मरण के स्थान समझ में आ जाते हैं वही अनुपम ज्ञानी हो सकता है एवं मुक्ति मार्ग का प्ररूपक हो सकता है।

(२) पलास पत्र से आच्छादित जल से कई अल्प सत्व वाले प्राणी बाहर नहीं आ सकते। वृक्ष अपने स्थान से हट नहीं सकते; उसी प्रकार कई जीव संसार में फंसे रहते हैं, कर्मों से मुक्त नहीं होते हैं।

(३) संसार में कई प्राणी बड़े-बड़े राज रोगों से दुःखी होते हैं।

(४) कर्मों का विपाक विचित्र है, उससे ही लोक के प्राणी विभिन्न दुःखों से व्याप्त है।

(५) ऐसी अवस्था हमें प्राप्त न हो इसके लिए किसी भी

प्राणी को किंचित भी दुःख नहीं देना चाहिए एवं पापों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(६) यह जानकर कई प्राणी अनुक्रम से महामुनि बन जाते हैं। पारिवारिक लोग उन्हें संसार में फंसाने की कोशिश करते हैं किन्तु वह उन्हें शरण भूत नहीं समझता है और ज्ञान में रमण करता है।

द्वितीय उद्देशकः—

(१) कई साधक संयम स्वीकार करके भी परीषह उपसर्गों से घबरा जाते हैं, विषय लोलुप बन जाते हैं, संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं। फिर भी वे अन्तराय कर्म के कारण इच्छित भोगों से वंचित होकर दुःखी हो जाते हैं।

(२) कई साधक वैराग्य तथा ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण आशक्तियों को दूर करते हुए यतनापूर्वक संयमाराधन करते हैं। आक्रोश, वध आदि को सम्यक् सहन करते हैं। वे ही वास्तव में मुनि है और संसार भ्रमण से मुक्त होते हैं।

(३) संयम साधको को सदा जिनाज्ञा के आराधन को ही धर्म समझकर पुरुषार्थ करना चाहिए।

(४) कई एकल विहार चर्या वाले साधक भी जिनाज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए शुद्ध गवेषणा से जीवन निर्वाह करते हैं एवं परिषह उपसर्गों को धैर्य के साथ सहन करते हैं, वे मेधावी है अर्थात् प्रशस्त एकल विहारी है।

तृतीय उद्देशकः—

(१) संयम के साथ अचेल (वस्त्र रहित) अवस्था में रहने वाले मुनियों को वस्त्र सीवन आदि सम्बन्धी क्रियाएं चिन्ताएं नहीं होती है।

(२) शीत, उष्ण, तृण-स्पर्श आदि कष्टों को समभाव से सहन करने पर उनके कर्मों की महा निर्जरा होती है।

(३) ऐसे वीर पुरुषों के संयम और शरीर को देखकर अपनी आत्मा को भी शिक्षित एवं उत्साहित करना चाहिए।

(४) समुद्र के बीच उच्च स्थान पर आए हुए असंदीन (नहीं डूबने वाले) द्वीप के समान धीर वीर साधक को अरति आदि बाधाएं कुछ भी नहीं कर सकती है।

(५) वे महामुनि शिष्यों को भी इसी प्रकार शिक्षण देकर संयम में दृढ़ करते हैं।

चतुर्थ उद्देशकः—

(१) कई साधक शिक्षाप्रद प्रेरणा के वचनों को सहन नहीं कर पाते। वे गुरू से या संयम से विमुख हो जाते हैं और कई तो श्रद्धा से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐहिक इच्छाओं के कारण भ्रष्ट बने उनका संयम ग्रहण करना निरर्थक हो जाता है।

(२) वे सामान्य जन के निन्दा पात्र बनते हैं, जन्म मरण बढ़ाते है।

(३) उन्नत वैराग्य से दीक्षित होकर भी कई इच्छाओं और विषयों के वशीभूत होकर पुनः संयम त्याग देते हैं उनकी सम्पूर्ण यश-कीर्ति धूमिल हो जाती है।

(४) इस सब अवस्थाओं का विचार कर मोक्षार्थी साधक सदा आगमानुसार ही संयम में पराक्रम करें।

पंचम उद्देशकः—

(१) ग्रामादिक किसी भी स्थल पर कोई भी कष्ट आवे तो मुनि उसे समभाव से सहन करें।

(२) मुनि की सेवा में उपस्थित व्यक्तियों को वह उनकी

योग्यता का विचार कर तथा किसी की भी आशातना, विराधना न हो इस तरह-अहिंसा, क्षमा, शान्ति आदि का उपदेश दे। व्रत महाव्रत का स्वरूप समझावें।

(३) संयम में अवहिर्लेशी रहे अर्थात् असंयमी विचारों एवं व्यवहारों का त्याग करके रहे संयम नाशक तत्वों से दूर रहे।

(४) आरम्भ-परिग्रह, काम-भोग और क्रोधादि कषायों का विवेक पूर्वक त्याग करने वाला कर्मों का क्षय कर मुक्त होता है।

(५) अन्तिम समय में शरीर का त्याग करना यह कर्म संग्राम का शीर्ष है। अर्थात् प्रमुख अवसर है उस समय पादपोपगमन आदि सन्थारा कर लेना चाहिए।

सातवां अध्ययन उपलब्ध नहीं है, यह व्यवच्छिन्न है।

आठवें अध्ययन का सारांशः—

प्रथम उद्देशकः—

(१) अन्य तीर्थिक सन्यासी या अन्य सम्भोगिक जैन श्रमण के साथ आहार आदि का आदान-प्रदान एवं निमन्त्रण नहीं करना।

(२) अन्य तीर्थिक विभिन्न प्रकार से प्ररूपण और प्रवृति करते है उनका धर्म प्ररूपण भी सत्य नहीं है।

(३) सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में पाप सेवन को भी स्वीकार किया गया है। इस कारण वे पूर्ण शुद्ध धर्म नहीं है।

(४) ग्राम हो या नगर हो अथवा जंगल हो, कहीं पर भी जो प्रथम मध्यम या अन्तिम किसी भी वय में बोध प्राप्त कर संयम धारण करे और हिंसादि पापों का सर्वथा परित्याग कर दे वह मुक्त होता है।

(५) सर्वत्र लोकगत जीवन हिंसादि में लगे हैं उन्हें देख मुनि त्रिकरण योग से हिंसा दण्ड का सेवन न करें।

द्वितीय उद्देशकः—

(१) आधाकर्मी आहार को मुनि मृत्यु दण्ड तक भी स्वीकार नहीं करें। किन्तु शक्य हो तो आग्रह करने वाले दाता को धर्म समझावें।

(२) असमान संयमी भिक्षुओं के साथ आहार आदान-प्रदान व्यवहार न करे किन्तु समान संयमी भिक्षुओं के साथ आहार-व्यवहार करें।

तृतीय उद्देशकः—

(१) मध्यम वय में भी कई मुमुक्षु उन्नत संयमी बन जाते है एवं शुद्ध आराधन करते हैं, वे महा निर्ग्रन्थ हैं।

(२) शरीर के ममत्व का त्याग कर वे अनेक गुण सम्पन्न हो जाते हैं।

(३) असह्य सर्दी से काँपते हुए उन्हें देखकर कोई अग्नि से तापने को प्रेरित करे तो भी मुनि मन से भी वांछा न करें।

चतुर्थ उद्देशकः—

१. मुनि तीन वस्त्र (चद्दर) धारण की विशेष प्रतिज्ञा (आठ मास तक) धारण करें वह वस्त्रों को धोवें नहीं। जीर्ण हो जाए तो नया लेवे नहीं किन्तु जीर्ण को परठ दे। सभी जीर्ण हो जाए तो निर्वस्त्र हो जावें।

(२) भिक्षु कभी स्त्री परीषह से पराजित हो जाए तो अन्त में स्वयं ही मृत्यु स्वीकार कर लें किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत भंग नहीं करे। व्रत रक्षा हेतु उसका स्वतः वेहानस एवं गृद्ध स्पृष्ट मरण से मरना भी कल्याण कारी है।

पंचम उद्देशकः—

(१) भिक्षु दो वस्त्र धारण (आठ मास तक) की प्रतिज्ञा

करे उनका परिकर्म न करें। जीर्ण हो जाने पर उनका परिष्ठापन कर अचेल रहे, परीषह आदि सम्यग् सहे।

(२) किसी रोग से कभी स्वयं गोचरी जाने में असमर्थ हो तो भी दूसरों से (गृहस्थों से) न मंगवावे न इनसे ले। आहार के सिवाय अन्य भी कोई वस्तु न लें। स्वस्थ होने पर स्वयं लावे।

(३) वैयावृत्य नहीं करने कराने सम्बन्धी भी भिक्षु अभिग्रह धारण कर सकता है। यह वैयावृत्य पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी है। रोगांतंक आदि में स्वयं सेवा करने का त्याग किया जा सकता है किन्तु अन्य रूग्ण की सेवा का त्याग नहीं किया जाता।

(४) जिनाज्ञा अनुसार एवं अपनी समाधि अनुसार ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं का सम्यग् आराधन करें एवं मृत्यु निकट जानकर भक्त प्रत्याख्यान पण्डित मरण स्वीकार करें।

छट्ठा उद्देशकः—

(१) भिक्षु एक वस्त्र (आठ मास तक) धारण करने की प्रतिज्ञा करे जीर्ण हो जाने पर निर्वस्त्र रहे।

(२) अकेला भिक्षु सदा एकत्व भाव में रमण करें।

(३) भिक्षु आहार के प्रति रसास्वादन वृत्ति न रखें।

(४) श्रमण जब शरीर की दुर्बलता जान लें कि यह संयम पालन के अक्षम हो रहा है तो तृण आदि की याचना कर योग्य स्थान में इगित रमण संथारा ग्रहण करे। एवं उसकी विधिपूर्वक आराधना करें।

सातवां उद्देशकः—

(१) भिक्षु अचेल होने की प्रतिज्ञा धारण करे अथवा लज्जा निवारणार्थ एक चोलपट्टक (कटिबंधनक) धारणं करें। शीत उष्ण आदि कष्ट सम्यग् सहे। उसके जीर्ण हो जाने पर अचेल भी रहे।

(२) आहार सम्भोग के त्याग करने की विभिन्न प्रतिज्ञा धारण करें।

(३) अन्त में यथा विधि पादपोपमन पण्डित मरण स्वीकार करें।

आठवा उद्देशकः—

(१) भक्त प्रत्याख्यानः—कषाय पतले करे आहार घटावे फिर आहार त्याग करे।

जीवन मरण की चाहना न करें, निर्जरा प्रेक्षी होकर शुद्ध अध्यवसाय रखें।

आयु समाप्ति निकट जान आत्मा को शिक्षित करें। योग्य निर्जीव भूमि में विधिपूर्वक संथारा करें। कष्ट परीषह में धैर्य रखें। छोटे-बड़े जीवों के द्वारा उत्पन्न उपद्रव में सहनशीलता के साथ शुद्ध परिणाम रखें।

(२) इंगित मरणः—अन्य किसी के द्वारा कोई भी सहकार-परिकर्म स्वीकार न करें किन्तु आवश्यक होने पर स्वयं शरीर की परिचर्या (दबाना आदि) कर सकता है।

मर्यादित भूमि में उठना, बैठना, चलना, सोना आदि प्रवृत्ति भी अत्यन्त आवश्यक होने पर कर सकता है।

(३) पादपोपगमनः—वृक्ष की टूट कर गिरी हुई शाखा के समान स्थिरकाय होकर एक स्थान पर ही रहे। परीषह उपसर्ग दृढ़ता के साथ सहन करें। शरीर पर ही कोई चले या शरीर को कुचल दे तो भी धैर्य से सहन करे किन्तु वहां से न हटे। मल-मूत्र त्यागने हेतु उठ सकता है।

जीवन पर्यन्त इस तरह सहन करे। सहनशीलता को ही परम धर्म समझे।

नवमें अध्ययन का सारांशः—

प्रथम उद्देशकः—

(१) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने हेमंत ऋतु में संयम स्वीकार किया।

(२) वे सम्पूर्ण संयम विधियों का यथावत पालन करने अर्थात् ५ महाव्रत ५ समिति में किसी प्रकार की स्खलना या प्रमाद का आचरण नहीं करते।

(३) वे सर्दी से घबराते नहीं और कभी कमरे से बाहर आकर शीत सहन करते।

(४) प्रभू ने एक वर्ष और एक मास बीत जाने पर इन्द्र प्रदत्त वस्त्र का परित्याग कर उसे वोसिरा दिया।

(५) संयम लेने के पूर्व भी भगवान् ने दो वर्ष तक सचित्त जल त्याग आदि नियमों को धारण किया था।

(६) प्रभू महावीर एकाग्र दृष्टि से चलते, इधर-उधर नहीं देखते। खाज भी नहीं खुजलाते।

द्वितीय उद्देशकः—

(१) प्रभू महावीर ने छद्मस्थ काल में अनेक प्रकार के स्थानों में निवास किया था। यथा—धर्मशाला, सभास्थल, प्याऊ, दुकान, खण्डहर, तृण-कुटीर (झोंपड़ी), बगीचा, विश्रामगृह, ग्राम, नगर, श्मशान, शून्यगृह, वृक्ष के नीचे इत्यादि।

(२) कभी भी भगवान् सयन नहीं करते, निद्रा नहीं लेते। प्रमाद की सम्भावना जानते तो चंक्रमण कर निद्रा को हटा देते।

(३) जीव जन्तुओं और कोतवाल आदि आरक्षकों के अनेक कष्ट सहन करते।

(४) देव आदि के अनुकूल प्रतिकूल भयानक कष्टों में भी हर्ष-शोक का त्याग कर उन्हें सहन करते।

तीसरा उद्देशकः—

(१) प्रभू महावीर कुछ समय के लिए अनार्य देश में गए। वहां लोगों का आहार व्यवहार अत्यन्त रूक्ष था।

(२) वहां कुत्तों का कष्ट भी अत्यधिक रहा था। वहां के लोग प्रेरणा (छू-छू) करके कुत्तों से भगवान को कटवाते थे। किन्तु भगवान् ने उनसे बचने की भी कभी कोशिश नहीं की।

(३) कई लोग गालियां देते, चिढ़ाते, पत्थर मारते, धूल फेंकते, पीछे से धक्का देकर गिरा देते या उठाकर पटक देते।

(४) कोई दण्ड मुष्ठी भाले आदि से प्रहार करते। कोई गांव में प्रवेश करने के पूर्व ही निकाल देते कि—"हमारे गांव में मत आओ।"

ऐसे भयानक कष्ट वहां प्रभु ने सहन किए।

चौथा उद्देशकः—

(१) प्रभू महावीर निरोग होते हुए भी सदा अल्प आहार करते और रोग आने पर भी कभी औषध चिकित्सा नहीं करते।

(२) कभी भी शरीर परिकर्म नहीं करते। सर्दी गर्मी की आतापना लेते एवं उपवास से लेकर ६ मास तक की अनेक तपस्या करते ही रहते थे।

(३) संयम में, गवेषणा में कभी कोई भी दोष नहीं लगाते। मार्ग में अन्य आहारार्थी पशु-पक्षी या मनुष्य होते तो भगवान् भिक्षार्थ नहीं जाते अथवा उनको अन्तराय न हो विवेक से जाते।

(४) एक बार आठ मास तक निरंतर भात, बोर-कूटा और उड़द इन तीन वस्तु के सिवाय कोई आहार प्रभू ने नहीं लिया।

(५) कभी संस्कारित, असंस्कारित, सूखा, ठण्डा, बासी, पुराणा, नीरस, जैसा भी आहार मिल जाता अथवा कभी नहीं मिलता उसी में सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहते।

(६) भगवान् कषाय रहित, विगयों की गृद्धि रहित एवं शब्दादि की अशक्ति से रहित होकर सदा ध्यान में लीन रहते। कभी उर्ध्व लोक आदि के स्वरूप में, कभी आत्म स्वरूप में अवलम्बन लेकर ध्यान करते थे।

(७) भगवान् ने छद्मस्थ काल में संयमराधन करते हुए कभी भी प्रमादाचरण (दोष अतिचार) का सेवन नहीं किया था।

॥ प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

—: द्वितीय श्रुत स्कन्ध :—

प्रथम अध्ययन का सारांश:—

इस अध्ययन में आहार—पानी की गवेषणा विधि का कथन विभिन्न प्रकारों से ग्यारह उद्देशों में किया गया है।

प्रथम उद्देशक:—

(१) हरित, बीज, फूलण और सूक्ष्म त्रस जीव युक्त आहार नहीं लेना, भूल से आ जाए तो शोधन करना, शोधन न हो सके तो परठ देना।

(२) सूखे धान्य, बीज, मूंगफली आदि अखण्ड न हो या अग्नि पक्व हो तो कल्पनीय है।

(३) कच्चे धान्य आदि के सिट्टे, कंबियां आदि अग्नि पर सामान्य सिके हुए हों तो अग्राह्य है, परिपूर्ण सिके हो तो ग्राह्य है।

(४) अन्य भिक्षाचार या पारिहारिक साधु के साथ-साथ आवागमन नहीं करना।

(५) साधु-साध्वी के उद्देश्य से बनाया, खरीदा, उधार लिया, किसी से छीना हुआ, सामने लाया हुआ आहार अकल्पनीय है।

(६) सामान्य रूप से शाक्यादि सभी श्रमणों के लिए गिन-गिन कर बनाया आहार भी भिक्षु को अग्राह्य है।

(७) किसी को भी गिने बिना सामान्य रूप से भिक्षाचरों के लिए बना आहार पुरुषांतरकृत होने पर (उद्देश्य किए भिक्षाचरों या गृहजनों द्वारा ग्रहण और उपभोग किए जाने पर) लेना कल्पता है।

(८) जहां जितना आहार केवल दान के लिए ही निर्धारित कर बनाया जाता हो ऐसे दान कुलों में उस आहार को नहीं लेना।

दूसरा उद्देशक:—

(१) महोत्सवों में जीमनवार के समय आहार ग्रहण नहीं करना। वही आहार पुरुषांतर कृत होने पर कल्पता है। दो कोष के आगे के जीमनवार में भिक्षार्थ नहीं जाना। वहां जाने पर अनेक दोषों की सम्भावना रहती है।

(२) क्षत्रिय, वणिक, ग्वाल जुलाहा, आरक्षक, नाई, सुनार, लुहार, दर्जी, बढ़ई आदि घरों से एवं अन्य भी ऐसे लोक व्यवहार में जो भी अजुगुप्सित अनिन्दित कुल हो वहां से आहार लेना कल्पता है।

तीसरा उद्देशक:—

(१) जीमनवार (बहुत बडे भोज) वाले ग्रामादि के लिए

उस आहार ग्रहण के प्रयोजन से विहार करके भी नहीं जावें।

(२) उपाश्रय से अन्यत्र कहीं जाना हो तो सर्व उपकरण युक्त जाना।

(३) राजा एवं उसके स्वजन परिजन का आहार नहीं लेना।

चौथा उद्देशकः-

(१) विशिष्ट भोजन वाले गृह में लोगों का आवागमन अधिक हो रहा हो उस समय भिक्षार्थ नहीं जाना। शान्ति के समय विवेक पूर्वक जाना कल्पता है।

(२) दूध दुहा जा रहा हो या आहार निष्पन्न हो रहा हो तो ऐसा जानकर भिक्षार्थ प्रवेश नहीं करना और आवश्यक व्यक्ति को दिये जाने के बाद लेना।

(३) आगंतुक पाहुणे साधुओं के साथ भिक्षा के सम्बन्ध में मायापूर्ण व्यवहार नहीं करना किन्तु आशक्ति भाव दूर कर उदार वृत्ति से व्यवहार करना।

पांचवा उद्देशकः-

(१) किसी आहार की शीघ्र प्राप्ति हेतु उतावल से नहीं जाना एवं होशियारी करके भी नहीं जाना।

(२) आपत्तिकारक बाधाजनक मार्गों से भिक्षार्थ न जाना।

(३) अपरिचित अभावित घरों का छोटा या बडा दरवाजा या बंद मार्ग बिना आज्ञा नहीं खोलना।

(४) अनेक भिक्षाचरों या असंभोगिक साधुओ के लिए दाता ने सामुहिक आहार दिया हो तो समविभाग कर अपना विभाग ही लेना तथा सार्धामकों के साथ खाना हो तो भी अपने विभाग से अधिक खाने का प्रयत्न नहीं करना।

(५) घर के बाहर कोई भिक्षाचर खड़े हों तो उस घर में

भिक्षार्थ न जाना उनके भिक्षा लेकर निवृत हो जाने पर जाना कल्पता है।

छट्ठा उद्देशकः—

(१) मार्ग में कबूतर आदि प्राणी आहार कर रहे हों तो अन्य मार्ग से भिक्षार्थ जाना।

(२) गृहस्थ के घर में उचित स्थान पर एवं विवेक युक्त खड़े रहना। चक्षु-इन्द्रिय को नियंत्रित (वश में) रखना।

(३) पूर्वकर्म दोष युक्त अथवा सचित पानी, पृथ्वी, वनस्पति, से लिप्त (खरड़े) हाथ या कुड़छी से भिक्षा नहीं लेना।

(४) सचित या अचित कोई भी वस्तु साधु के लिए कूट कर, पीस कर या झटक-फटक कर देवे तो उसे नहीं लेना।

(५) अग्नि पर रखी वस्तु नहीं लेना।

सातवां उद्देशकः—

(१) मालोपहृत दोष युक्त (निसरणी आदि लगाकर दे वैसी) वस्तु नहीं लेना तथा कठिनाई से निकाल कर या लेकर दे वैसी वस्तु भी नहीं लेना।

(२) बंद ढक्कन खोलने में पहले या पीछे विराधना हो तो उसे खुलवाकर नहीं लेना।

(३) सचित पृथ्वी पानी वनस्पति के उपर रखे पदार्थ नहीं लेना।

(४) पंखे आदि से हवा करके गर्म पदार्थ शीतल करके देवे तो नहीं लेना।

(५) धोवण के अचित जल को कुछ समय (२०-३० मिनिट) तक नहीं लेना।

(६) कभी दाता देने योग्य स्थिति में न हो या विराधना संभव हो तो भिक्षु आज्ञा प्राप्त करके स्वयं उसी बर्तन से उलीच कर अथवा लोटे गिलास या अपने पात्र से गृहस्वामी की स्वीकृति अनुसार ले सकता है।

(७) सचित स्थानों के अत्यन्त निकट रखे हुए या अचेतन पदार्थों के उपर रखे हुए जल को अथवा सचित जल लेने के बर्तन से अचित जल दे तो नहीं लेना।

आठवां उद्देशकः—

(१) बीज गुटली आदि से युक्त अचित जल हो और उसे छानकर दे तो भी नहीं लेना।

(२) किधर से भी सुगन्ध आ रही हो तो उसमें आशक्त नहीं होना।

(३) शुष्क या हरी वनस्पति के बीज, फल, पत्र, तरकारी आदि पूर्ण शस्त्रपरिणत अचित होने पर ही ग्रहण करना कल्पता है।

(४) किसी पदार्थ में रसज आदि त्रस जीव उत्पन्न हुए हों तो उस पदार्थ को शस्त्रपरणित या अचित होने के पूर्व नहीं लेना।

(५) कुंभी पक्व फल अशस्त्र परिणत एवं अप्रायुक्त होते हैं, ऐसा जानकर उन्हें नहीं लेना।

नवमां उद्देशकः—

(१) साधु को आहार देकर अन्य आहार बनावे, ऐसा ज्ञात होने पर या सम्भव लगे तो भी नहीं लेना।

(२) भक्ति सम्पन्न या पारिवारिक घरों में आहार निष्पन्न होने के पूर्व जाकर फिर पुनः जाना नहीं कल्पता है। क्योंकि वहां दोष लगने की सम्भावना अधिक रहती है।

(३) अच्छा-अच्छा (सरस-स्वादिष्ट) आहार-पानी खाना-पीना और खराब (अमनोज्ञरुक्ष नीरस) को परठ देना, ऐसा करना नहीं कल्पता है।

(४) अधिक आहार आ जाय तो अन्य साधुओं को निमंत्रण किये बिना नहीं परठना।

(५) किसी की निश्रा के आहार को या निमित किये गये आहार को उसे पूछे बिना अन्य द्वारा नहीं लेना।

दशवां उद्देशकः—

(१) सामान्य आहार में से किसी को देने में अपनी मन-मानी नहीं करना किन्तु उनकी आज्ञा लेकर के ही किसी को देना।

(२) व्यक्तिगत गोचरी हो तो आहार दिखाने में निष्कपट भाव रखना।

(३) इक्षु आदि उज्झित धर्मा (जिसमें बहुत भाग फेंका जाता है ऐसे) पदार्थ नहीं लेना।

(४) भूल से कोई अचित पदार्थ ग्रहण किय गया हो तो पुनः दाता की आज्ञा प्राप्त करके उनको खाना। यदि अनुपयोगी हो तो लौटा देना।

ग्यारहवां उद्देशकः—

(१) किसी रुग्ण भिक्षु के लिए भेजे गये आहार में स्वार्थ वृत्ति नहीं रखना, निःस्वार्थ सेवा करना।

(२) भोजन सम्बन्धी ७ अभिग्रह (पिंडेषणा) है—(१) सलेप हाथादि से लेना (२) अलेप हाथादि से लेना (३) मूल बर्तन से लेना। (४) अलेप्य पदार्थ लेना (५) अन्य परोसने के बर्तन से लेना। (६) खाने के थाली आदि से लेना (७) फेंकने योग्य आहार लेना ऐसी ही सात पाणेषणा जानना।

दूसरे अध्ययन का सारांशः-

इस अध्ययन में उपाश्रय सम्बन्धी वर्णन है।

(१) हरी घास, बीज, अग्नि एवं जल तथा त्रस जीव कीड़ी मकड़ी आदि से युक्त स्थान में नहीं ठहरना।

(२) जैन साधुओं के उद्देश्य या गणना युक्त उद्देश्य वाले स्थान में नहीं ठहरना।

(३) क्रीत दोष एवं छोटे बड़े परिकर्म (सुधार-संस्कार) कार्य साधु के लिए किए हों उस स्थान में नहीं ठहरना।

पुरुषांतर कृत हो जाने पर (गृहस्थ के उपयोग में आ जाने पर) ये क्रीत परिकर्म युक्त सभी उपाश्रय कल्पनीय कहे गये हैं।

(४) भूमि से अधिक ऊंचे एवं चौतरफ खुले आकाश वाले (अंतरिक्षजात) स्थानों में नहीं ठहरना।

(५) परिवार युक्त गृहस्थ के मकान में या धन सम्पत्ति युक्त स्थानों में नहीं ठहरना।

(६) गृहस्थ के रहने के स्थान की और साधु के ठहरने के स्थान की छत एवं भित्ति दोनों संलग्न हो उसे द्रव्य प्रतिबद्ध उपाश्रय कहते हैं और जहां स्त्री और साधु के बैठने व पेसाब करने का स्थान एक हो जहां से सहज स्त्री के रुप दिखते हों, शब्द सुनाई देते हों, वह भाव प्रतिबद्ध उपाश्रय है ऐसे प्रतिबद्ध उपाश्रय में नहीं ठहरना।

(७) भिक्षु अस्नान धर्म का पालन करने वाला होता है एवं समय समय पर कई कार्यों में लघुनीत (मूत्र) का उपयोग करने वाला होता है अतः भिक्षु के शरीर की गंध या दुर्गन्ध आदि भी गृहस्थों को प्रतिकूल एवं अमनोज्ञ हो सकती है। अतः परिवार युक्त गृहस्थ के घर में ठहरने की जिनाज्ञा नहीं है।

(८) यदि कभी छोटा और अनेक वस्तुओं से व्याप्त स्थान मिला है तो अंधेरे में गमनागमन करते समय पहले हाथ से देखकर अनुमान करके फिर चलना चाहिए।

(९) अधिक चित्रों या लेखों युक्त उपाश्रय में नहीं ठहरना।

(१०) पाट या घास भी जीव रहित, हल्का, प्रत्यर्पणीय एवं सुयोग्य हो तो ग्रहण करना। इन्हें लौटाते समय प्रतिलेखन करके आवश्यक हो तो धूप लगाकर जीव रहित होने पर देना।

(११) सोने बैठने की जगह और पाट आदि दीक्षाप्रर्याय के क्रम से ग्रहण करना एवं आचार्य आदि पूज्य पुरूषों तथा रूग्ण, तपस्वी आदि के ग्रहण करने के बाद ग्रहण करना।

(१२) मल-मूत्र परठने की भूमि आस-पास में हो ऐसे स्थान में ही ठहरना।

(१३) शरीर एवं शय्या का प्रमार्जन करके किसी के हाथ पाँव न लगे ऐसे यतना पूर्वक शयन करना।

खांसी छींक उबासी वायुनिसर्ग आदि हो तो मुंह को या गुदा भाग को हाथ से ढँक कर उक्त प्रवृतियां करना।

(१४) अनुकूल प्रतिकूल शय्या में समभाव पूर्वक समय व्यतीत करना।

तीसरे अध्ययन का सारांशः--

इस अध्ययन में विचरण सम्बन्धी वर्णन है।

(१) वर्षा हो जाने पर एवं हरी घास व त्रस जीवों की उत्पत्ति अधिक हो जाने पर या विराधना रहित मार्गों के अनुपलब्ध हो जाने पर आषाढी पूर्णिमा के पूर्व भी चातुर्मास के लिए ठहर जाना चाहिए।

(२) जहां आहार, पानी, मकान, परठने की भूमि, स्वाध्याय भूमि आदि सुलभ हों ऐसे क्षेत्र में चातुर्मास करना।

(३) चातुर्मास समाप्ति के बाद मार्ग जीव विराधना रहित हो जाय तब विहार करना।

(४) जीव रक्षा एवं यतना करते हुए, पांव एवं शरीर को संभालते हुए चलना विवेक पूर्वक विराधना रहित मार्गों से जाने का निर्णय करना।

(५) अनार्य प्रकृति के लोगों की बस्ति वाले क्षेत्रों या मार्गों में विहार नहीं करना।

(६) जन रहित अत्यधिक लंबे मार्गों में विहार नहीं करना।

(७) परिस्थिति उपस्थिति होने पर सूत्रोक्त विवेक और विधियों के साथ नौका विहार करना कल्पता है।

(८) नदी में फेंक देने पर यतना पूर्वक तैर कर उसे पार करना कल्पता है।

(९) शरीर के जल की स्निग्धता से रहित होने तक नदी के किनारे खड़े रहना। फिर विराधना रहित या अपेक्षाकृत अल्प अल्पतर विराधना वाले मार्ग का अन्वेषण कर विहार करना।

(१०) विहार करते वक्त किसी के साथ वार्तालाप करते हुए नहीं चलना।

(११) घुटने के नीचे तक पानी हो ऐसे नदी नाले मार्ग में आ जाय और अन्य मार्ग आस-पास में न देखें तो पानी का मंथन न हो इस तरह तथा अन्य सूत्रोक्त विवेक रखकर उसे चलकर पार करना कल्पता है।

(१२) अत्यधिक विषम या असमाधिकारक मार्गों से नहीं चलना।

(१३) ग्रामादि की शुभाशुभता के परिचय सम्बन्धी राहगीरों के प्रश्न का उत्तर नहीं देना और न ही ऐसे प्रश्न पूछना।

(१४) चलते समय मार्ग में अनेक स्थानों, जलाशयों और जीवों को, आशक्ति युक्त देखना नहीं एवं दिखाना भी नहीं।

(१५) आचार्य या रत्नाधिक साधुओं के साथ विनय एवं विवेक के साथ चलना एवं बोलने का भी विवेक रखना।

(१६) प्रतिपथिक के द्वारा जानवरों, अग्नि, जल के सम्बन्ध में, या मार्ग की लम्बाई आदि के सम्बन्ध में पूछने पर उत्तर न देते हुए मौन पूर्वक उपेक्षा भाव से गमन करना।

(१७) मार्ग में चोर लुटेरे श्वापद आदि से भयभीत हो घबराकर भाग दौड़ करना नहीं। धैर्य एवं विवेक के साथ गमन करना।

चौथे अध्ययन का सारांश:—

इस अध्ययन में भाषा सम्बन्धी वर्णन है।

(१) क्रोध, मान, माया और लोभ युक्त वचन बोलना, जानकर या अनजान से कठोर वचन बोलना, ये सभी सावध भाषा है। ऐसी भाषा नहीं बोलना।

(२) निश्चयकारी भाषा नहीं बोलना एवं अशुद्ध उच्चारण न करके विचारपूर्वक शुद्ध स्पष्ट भाषा बोलना।

(३) सत्य और व्यवहार दो प्रकार की भाषा बोलना। वह भी सावध, सक्रिय, कर्कश, कठोर, निष्ठुर, छेदकारी, भेदकारी न हो ऐसी भाषा बोलना।

(४) एक बार या अनेक बार बुलाने पर भी कोई न बोले तो भी उसके लिए हीन एवं अशुभ शब्द प्रयोग नहीं करना अपितु उच्च शब्द एवं संबोधन का प्रयोग करना।

(५) अतिशयोक्ति युक्त वचन नहीं बोलना।

(६) वर्षा, सर्दी, गर्मी, हवा, सुकाल, दुष्काल, रात्रि, दिन आदि प्राकृतिक प्रवृतियों के सम्बन्ध में होने या न होने के संकल्प अथवा वचन प्रयोग नहीं करना।

(७) अन्य कटुक वचन या संबोधन (कोढी, रोगी, अंधे आदि) नहीं बोलना। शुभ संबोधन वचन (यशस्वी भाग्यशाली आदि) कहना।

(८) रमणीय आहार, पशुपक्षी आदि की सुन्दरता की प्रशंसा नहीं करना तथा अन्य भी पशुपक्षी धान्यादि के सम्बन्ध में अनावश्यक, सावध या पीड़ाकारी वचन नहीं बोलना।

(९) शब्द रूप आदि के विषय में राग या द्वेष भाव युक्त प्रसंशा या निन्दा न करना।

इस प्रकार कषाय भावों से रहित, विचार पूर्वक, उतावल रहित विवेक के साथ आवश्यक असावध वचनों का प्रयोग करना चाहिए।

पांचवें अध्ययन का सारांशः-

इस अध्ययन में वस्त्र सम्बन्धी वर्णन है।

(१) १-त्रस जीवों (विकलेंद्रय एवं पंचेन्द्रिय) के लार या केशों से बने वस्त्र, २-अलसी बांस आदि से निष्पन्न वस्त्र ३-सण आदि से निश्पन्न वस्त्र, ४-ताड आदि के पत्रों से निश्पन्न वस्त्र ५-कपास (रुई) से बने वस्त्र, ६-आक आदि की रुई से बने वस्त्र। इनमें से स्वस्थ भिक्षु को किसी भी एक प्रकार के वस्त्र धारण करना कल्पता है। व्याख्याकारों ने कपास के वस्त्र को प्राथमिकता दी है तदन्तर ऊनी वस्त्र को ग्राह्य कहा है। इन दोनों प्रकार के वस्त्रों के उपलब्ध होने पर अन्य जाति के वस्त्रों को ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा निर्देश किया है।

(२) दो कोष से आगे वस्त्र याचना करने नहीं जाना।

(३) औद्देशिक दोष युक्त वस्त्र नहीं लेना।

(४) क्रीत आदि दोष युक्त वस्त्र नहीं लेना किंतु भिक्षु के

लक्ष्य के बिना गृहस्थ के उपयोग में आ जाने पर उसे लेना कल्पता है।

(५) सामान्यजन अपरिभोग्य बहुमूल्य वस्त्र नहीं लेना।

(६) संकल्पित, २. सामने दिखने वाले, ३. कुछ उपयोग में आए या ४. पूर्ण रूप से गृहस्थ के उपयोग रहित बने वस्त्रों को ग्रहण करने की विशिष्ट प्रतिज्ञा-अभिग्रह करना।

(७) गृहस्थ वस्त्र के लिए बाद में आने का समय देकर बुलावे तो स्वीकार नहीं करना एवं उसी समय बिना किसी प्रकार की प्रक्रिया (वस्त्र को धोना, सुवासित करना) किए बिना दें तो लेना।

(८) वस्त्र में से सचित पदार्थ खाली करके दे तो नहीं लेना।

(९) पूर्ण निर्दोष वस्त्र को वहां पर ही पूरा खोलकर देख कर लेना।

(१०) जीव रहित एवं उपयोग में आने योग्य वस्त्र लेना।

(११) वस्त्र लेने के बाद तुरन्त ही धोना आदि कार्य न करना पड़े वैसा ही वस्त्र लेना।

(१२) कभी वस्त्र धोकर सुखाना हो तो जीव विराधना युक्त स्थान में या चौतरफ खुले आकाश वाले ऊंचे स्थान में नहीं सुखाना।

(१३) वस्त्र के सम्बन्ध में माया-छल प्रवृति नहीं करना एवं फाड़ना, सीना, अदल-बदल करना आदि निरर्थक प्रवृतिएं भी नहीं करना।

छट्ठे अध्ययन का सारांशः--

इस अध्ययन में पात्र सम्बन्धी वर्णन है।

(१) लकडी-तुम्बा-मिट्टी इन तीन जाति के पात्र लेना कल्पता है।

(२) स्वस्थ भिक्षु इनमें से किसी एक जाति का ही पात्र धारण करे।

(३) सोना, चांदी, लोहा आदि धातु के एवं कांच, मणि, दांत, वस्त्र, पत्थर, चर्म आदि के पात्र लेना भिक्षु को नहीं कल्पता है।

शेष वर्णन वस्त्र के समान पात्र के लिऐ समझ लेना।

सातवें अध्ययन का सारांशः--

इस अध्ययन में अवग्रह (आज्ञा लेने) सम्बन्धी वर्णन है।

(१) भिक्षु को कोई भी वस्तु अदत्त ग्रहण नहीं करना। देने पर या आज्ञा लेकर ग्रहण करना कल्पता है।

(२) साधार्मिक सहचारी श्रमणों के उपकरण भी बिना आज्ञा लेना नहीं कल्पता है।

(३) मकान के स्वामी की या उसने जिसे सुपुर्द किया है उसकी अथवा जिसकी आज्ञा लेना उसे सम्मत हो उसकी आज्ञा लेना।

(४) मकान की सीमा, परिष्ठापन भूमि, समय की मर्यादा का स्पष्टीकरण भी करना।

(५) सांभोगिक साधु आये तो उन्हें स्थान, संस्तारक, आहार पानी देना, निमंत्रण करना।

(६) अन्य सांभोगिक साधु आ जावे तो उन्हें स्थान संस्तारक पाट आदि देना निमंत्रण करना।

(७) यदि श्रमण ब्राह्मण युक्त उपाश्रय या कमरा मिला हो तो उनको किसी भी प्रकार से अप्रीति, विरोध भाव उत्पन्न न हो उस तरह विवेक पूर्वक रहना।

(८) लहसुण, इक्षु आम की बहुलता वाले स्थान में ठहरा

हो और कभी वे पदार्थ ग्रहण करने हों तो अचित और दोष रहित होने पर उन्हें ग्रहण करना कल्पता है।

(६) व्यक्ति की अपेक्षा आज्ञा पांच प्रकार की है–१. देवेन्द्र की, २. राजा की, ३. शरूयातर की, ४. गृहस्थ की, ५. साधर्मिक साधु की।

आठवें अध्ययन का सारांशः –

(१) इस अध्ययन में खड़े रहकर कार्योत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा सम्बन्धी वर्णन है। उसी के लिए योग्य स्थान ग्रहण करने का सम्पूर्ण वर्णन दूसरे अध्ययन के समान है।

(२) इस प्रतिज्ञा वाला आलंबन लेकर खड़ा हो सकता है। हाथ-पांव का संचालन कर सकता है मर्यादित भूमि में संचरण भी कर सकता है एवं पूर्ण निश्चल आलंबन रहित कयोत्सर्ग भी यथा समय करता है किन्तु बैठता नहीं एवं सोता भी नहीं।

नवमें अध्ययन का सारांशः—

(१) इस अध्ययन में बैठने सम्बन्धी या स्वाध्याय सम्बन्धी चर्या का कथन है। योग्य स्थान की याचना विधि पूर्ववत् है।

दशवें अध्ययन का सारांशः––

इस अध्ययन में मल त्यागने एवं परठने सम्बन्धी वर्णन है।

(१) उच्चार–प्रस्रवण (मलोत्सर्ग) की बाधा होने पर, मलद्वार पोंछने का वस्त्र खण्ड स्वयं के पास न हो तो अन्य साधु से लेवें।

(२) जीव रहित अचित निर्दोष भूमि में जावे।

(३) स्वयं को असुविधाकारी या अन्य को अमनोज्ञ लगे ऐसे स्थान पर नहीं जाना।

(४) मनोरंजन के या उपभोग में आने के अथवा फल धान्य आदि संग्रह के स्थानों में या उनके आस–पास भी नहीं जाना।

(५) जहां ठहरा हो वहां या उसके आस पास की भूमि में उसके स्वामी की आज्ञा लिए बिना मलोत्सर्ग नहीं करना।

(६) आवश्यक होने पर स्वयं के या अन्य भिक्षु के उच्चार मात्रक को लेकर उपाश्रय के किसी एकान्त स्थान में बैठकर उस पात्र में मलोत्सर्ग करना। फिर योग्य भूमि में परिष्ठापन करना।

ग्यारहवें अध्ययन का सारांशः—

इस अध्ययन में शब्द श्रवण सम्बन्धी वर्णन है।

(१) तत, वितत, घंन झूसिर इन चार प्रकार के वाद्यों की आवाज सुनने नहीं जाना। अन्य भी अनेक स्थानों, व्यक्तियों एवं पशुओं की आवाज सुनने नहीं जाना।

(२) स्वाभाविक ही जो शब्द सुनाई दे तो उसमें आसक्ति भाव नहीं लाना।

बारहवें अध्ययन का सारांशः—

(१) इस अध्ययन में रुप देखने अर्थात् दर्शनीय स्थानों को देखने के लिए जाने का निषेध पूर्व अध्ययन के समान है।

(२) स्वाभाविक ही जो विषय दृष्टिगोचर हो तो उसमें आसक्तिभाव नहीं करना।

तेरहवें अध्ययन का सारांशः—

इस अध्ययन में परक्रिया सम्बन्धी वर्णन है।

(१) कोई भी गृहस्थ साधु के शरीर पर सुश्रुषा-परिचर्चा प्रवृति करे तो उसे मना कर देना तथा स्वयं भी कहकर नहीं कराना।

(२) इसी प्रकार शल्य चिकित्सा, मैल निवारण, केस-रोम कर्तन, जूं-लीख निष्काशन आदि प्रवृति के विषय में भी समझ लेना।

(३) इसी प्रकार कोई गृहस्थ अशुद्ध या शुद्ध मंत्र से चिकित्सा करे अथवा सचित कंदादि से चिकित्सा करे तो भी निषेध कर देना।

(४) प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों को उपार्जित कर फिर उसके विपाक-फल (परिणाम) अनुसार वेदना वेदते हैं। यह जानकर समभाव से सहन करना एवं संयम तप में सम्यक् प्रकार से रमण करना चाहिए।

चौदहवें अध्ययन का सारांशः—

साधु परस्पर भी शरीर परिकर्म आदि क्रियाएं न करें। जिनका वर्णन तेरहवें अध्ययन के समान है।

पंद्रहवें अध्ययन का सारांशः—

इस अध्ययन में प्रभु महावीर के पारिवारिक जीवन का जन्म से लेकर दीक्षा तक का संक्षिप्त परिचय है। दीक्षा महोत्सव का भी वर्णन है (संभवतः यह वर्णन पर्यूषणा कल्प सूत्र से यहां कभी प्रक्षिप्त हुआ है—क्योंकि आचार वर्णनों के साथ यह अप्रासंगिक है तथा इस विषय पर व्याख्याएं भी नहीं की गई है। अन्यत्र विस्तृत वर्णन होने से यहां अनावश्यक भी है) केवल ज्ञान प्राप्ति के बाद पाँच महाव्रत के स्वरूप एवं भावनाओं के कथन तक संबन्ध जोड़ा गया है।

प्रथम महाव्रत की पांच भावनाः—

(१) ईर्या समिति युक्त होना (२) प्रशस्त मन रखना (३) प्रशस्त वचन, सत्य वचन और असावध वचन प्रयोग करना (४) किसी भी पदार्थ को ग्रहण करना, रखना—छोड़ना, आदि प्रवृतिएं यतना पूर्वक करना (५) आहार पानी को अच्छी तरह अवलोकन कर खाना-पीना।

दूसरे महाव्रत की पांच भावना—

(१) अच्छी तरह सोच विचार कर शान्ति से रागद्वेष रहित भाषा बोलना। (२) क्रोध का निग्रह करना (३) लोभ का निग्रह करना (उपलक्षण से मान माया का भी निग्रह करना) अर्थात् क्रोधादि कषाय भाव की अवस्था में मौन रखना। (४) भय का त्याग कर निर्भय होने का अभ्यास करना। (५) हास्य प्रकृति का परिवर्तन कर गम्भीर स्वभाव होना।

तीसरे महाव्रत की पांच भावनाः—

(१) उपाश्रय की सभी बातों के विचार सहित आज्ञा लेना।

(२) गुरुजन या आचार्य की आज्ञा लेकर ही आहार करना या किसी वस्तु का आस्वादन करना।

(३) बड़े स्थान में या अनेक विभाग युक्त स्थान में क्षेत्र सीमा स्पष्ट कर के आज्ञा लेना या शय्यादाता जितने स्थान की आज्ञा दे उतने स्थान का ही उपयोग करना।

(४) प्रत्येक आवश्यक वस्तुओं की यथा समय पुनः आज्ञा लेने की प्रवृति एवं अभ्यास होना।

(५) सहचारी साधुओं के उपकरणादि की भी आज्ञा लेकर ग्रहण करना।

चौथे महाव्रत की पांच भावनाः—

(१) स्त्री सम्बन्धी रागजनक वार्ता न करना। (२) स्त्री के मनोहर अंगों का राग भाव से अवलोकन नहीं करना। (३) पूर्व के भोगों का, ऐस आराम का स्मरण, चिन्तन न करना (४) अति भोजन या सरस भोजन नहीं करना। (५) स्त्री, पशु आदि रहित उपाश्रय में रहना।

पांचवें महाव्रत की पांच भावना:—

(१) शब्द (२) रूप (३) गंध (४) रस (५) स्पर्श इन पांचों विषयों का संयोग नहीं जुटाना और स्वाभाविक संयोग होने पर राग भाव या आशक्ति भाव नहीं करना।

सोलहवें अध्ययन का सारांश:—

यह विमुक्ति नामक अंतिम अध्ययन है। इस में मोक्ष प्राप्ति की प्रेरणा एवं उसके उपाय सूचित किए हैं।

(१) अनित्य भावना से भावित होकर आरंभ परिग्रह का त्याग करना।

(२) हीलना वचन आदि पुरूष शब्दों रूपी तीरों को संग्राम शीर्ष हस्ति के समान सहन करें।

(३) तृष्णा रहित बन कर ध्यान करना जिससे तप, प्रज्ञा, यश की वृद्धि होती है।

(४) क्षेमकारो महाव्रतों का यथावत् पालन करना।

(५) कहीं पर भी स्नेह भाव नहीं करना, स्त्रियों में आसक्ति नहीं करना। पूजा प्रतिष्ठा की चाह का त्याग करना।

(६) ऐसे साधक के कर्म मैल अग्नि से चांदी के मैल के समान साफ हो जाते हैं।

(७) आशाओं का त्याग करना, सर्प के जीर्ण त्वचा त्याग के समान सभी ममतादि का त्याग करने वाला दुःखशय्या से मुक्त हो जाता है।

(८) दुस्तर समुद्र के समान संसार सागर को मुनि तर जाते हैं।

(९) बंध विमोक्ष के स्वरूप को जान कर मुनि मुक्त होते हैं।

(१०) जिनका इस लोक परलोक में राग भाव का बंधन किंचित भी नहीं हैं वे संसार प्रपंच से मुक्त हो जाते हैं।

उपसंहारः—

लिपि काल में हुए अनेक प्रकार के ठाणांग समवायांग सूत्र सम्बन्धी संपादनों के कारण एवं ऐतिहासिक भ्रम पूर्ण कल्पित उल्लेखों के कारण और अनेक इतिहासज्ञों के व्यक्तिगत चिंतन के प्रचार से इस सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कंध के मौलिक स्वरूप के विषय में अनेक विकल्प एवं प्रश्न चिन्ह है किन्तु बिना किसी आगम प्रमाण के केवल बौद्धिक कल्पना को महत्व देने में कोई लाभ नहीं है। हजारों वर्ष के लंबे काल में संपादन या स्वार्थ पूर्ण ऐच्छिक परिवर्तन-परिवर्धन सूत्रों में समय समय पर अवश्य हुए है किन्तु वे विद्वानों के लिए मननीय है। सामान्य जन तो आत्म संयम के हितकर विषयों के अध्ययनों से युक्त इस श्रुतस्कंध का श्रद्धा पूर्वक स्वाध्याय करें यही पर्याप्त है।

अर्हम्

आगमों के सारांश

१. स्वयं पढे, दूसरों को पढावें.
२. अग्रिम ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को भी बनावें.
३. १००/=रू० में ३२ सूत्र की ३२ पुस्तकें प्राप्त करें.

भूल न करें आज ही १००/=रूपए का मनिआर्डर भेजकर अग्रिम ग्राहक बनिए।

निवेदक

पताः— **हनुमान लाल टाईपिस्ट**

श्री मरूधर केसरी पारमार्थिक समिति,
राजामल का बाग, पुष्कर-३०५०२२
(जिला-अजमेर) राज.

उत्तराध्ययन सूत्र

सम्यक पराक्रम नामक उन्तीसवें अध्ययन का सारांशः-

(१) वैराग्य भावों की वृद्धि करने एवं संसार से उदासीन बनने से—१. उत्तम धर्म श्रद्धा की प्राप्ति होती है। २. उससे पुनः वैराग्य की वृद्धि होती है। ३. तीव्र कषाय भावों की समाप्ति एवं ४. नये कर्म बन्ध की अल्पता हो जाती है। ५. सम्यक्त्व की उत्कृष्ट आराधना करने वाले कई जीव उसी भव में और कई जीव तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(२) निवृति की वृद्धि और त्याग व्रत की वृद्धि करने से—१. पदार्थों के प्रति अनाशक्ति भाव पैदा होता है। २. इन्द्रिय विषयों में विरक्ति भाव हो जाता है। ३. हिंसादि प्रवृतियों का त्याग होता है। ४. एवं संसार का अंत और मोक्ष की उपलब्धि होती है।

(३) धर्म की सच्ची श्रद्धा हो जाने पर—१. सुख सुविधा के प्रति लगाव की कमी होती है। २. संयम को स्वीकार किया जाता है। ३. शारीरिक मानसिक दुःखों का विच्छेद हो जाता है और ४. बाधारहित सुख की प्राप्ति होती है।

(४) गुरू एवं सहवर्ती साधुओं की सेवा से—१. कर्तव्य का पालन होता है २. आशातनाओं से आत्मा की रक्षा होती है। ३. आशातना नहीं होने से दुर्गति का निरोध होता है। ४. उनकी गुण कीर्ति, भक्ति-बहुमान करने से सद्गति की प्राप्ति या सिद्ध गति की प्राप्ति होती है। ५. विनयमूलक अनेक गुणों की उपलब्धि होती है। ६. और अन्य जीवों के लिए विनय सेवा का आदर्श उपलब्ध होता है।

(५) अपने दोषों की आलोचना करने से--**मोक्ष मार्ग में विघ्न करने वाले और अनन्त संसार की वृद्धि करने वाले ऐसे माया, निदान और मिथ्यात्व रूप तीन शल्यों का नाश होता है। सरल भावों की उपलब्धि होती है।**

(६) आत्म निन्दा अर्थात् अपनी भूलों के प्रति खेद अनुभव करने से--१. **पश्चाताप होकर विरक्ति भाव की वृद्धि होती है** और २. **उससे गुणस्थानों की क्रमशः बढोतरी होकर मोह कर्म का क्षय होता है।**

(७) दूसरों के समक्ष अपनी भूल प्रकट करने से--**जीव अपने अनादर असत्कार जन्य कर्मों की उदीरणा करता है और क्रमशः घाती कर्मों का क्षय करता है।**

(८) सामयिक स्वीकार करने से-**पाप प्रवृतिएं छूट जाती हैं।**

(९) लोगस्स पाठ (२४ तीर्थंकर की स्तुति) करने से--**सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है।**

(१०) वंदन विनय करने से--१. **हल्के कर्मों का क्षय एवं ऊंचे कर्मों का उपार्जन होता है। तथा २. उसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करे ऐसे सौभाग्य को और जनप्रियता को प्राप्त करता है।**

(११) प्रतिक्रमण करने से—१. **लिए हुए व्रत पच्चक्खानों की शुद्धि होती है। २. जिससे चारित्र शुद्ध होता है। ३. समिति गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता में जागरुकता बढती है। ४. तथा भाव युक्त प्रतिक्रमण करने से संयम में तल्लीनता की वृद्धि होती है एवं ५. मानसिक निर्मलता की उपलब्धि होती है।**

(१२) कायोत्सर्ग करने से अर्थात् मन वचन तथा शरीर का पूर्णतः व्युत्सर्जन कर देने से--१. **भार नीचे रख देने वाले भारवाहक के समान वह साधक हल्का हो जाता है। २. और**

प्रशस्त ध्यान में लीन होकर उत्तरोत्तर सुख पूर्वक विचरण करता है।

(१३) प्रत्याख्यान करने से--आश्रवों का निरोध होता है जिससे कर्म बंध कम हो जाता है।

(१४) सिद्ध स्तुति-णमोत्थुणं का पाठ करने से—१. ज्ञान दर्शन चारित्र संबंधी विशिष्ट बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति होती है। २. एवं ऐसी बोधि से संपन्न जीव आराधना के योग्य बनता है।

(१५) प्रायश्चित ग्रहण करने से—१. चारित्र निरतिचार हो जाता है। २. पापाचरणों का विशोधन हो जाता है। ३. सम्यग् ज्ञान की उपलब्धि और चारित्र की सम्यग् आराधना हो जाती है।

(१६) स्वाध्याय काल आया या नहीं यह जानकारी करने से एवं अस्वाध्याय के कारणों की निर्णित जानकारी करने से—ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता है।

(१७) क्षमा याचना कर लेने से—१. आह्लाद पूर्ण मनोभाव हो जाता है अर्थात् चित्त की प्रसन्नता हो जाती है। २. सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव की उपलब्धि होती है। ३. मन की निर्मलता हो जाने पर वह प्राणी सर्वत्र निर्भय बन जाता है।

(१८) स्वाध्याय से--ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होती है।

(१९) वाचना-आचार्य या उपाध्याय से मूल पाठ एवं अर्थ की वाचना लेने से--१. सर्वतोमुखी कर्मों का क्षय होता है। २. वाचना लेने वाला श्रुत की उपेक्षा दोष से और अशातना दोष से बच जाता है अर्थात् सूत्रों की वाचना लेने वाले की श्रुत के प्रति भक्ति भाव की वृद्धि होती है और सम्यग् शास्त्र वांचना लेकर बहुश्रुत हो जाने से उसके द्वारा सहसा अज्ञान दोष से श्रुत की आशातना नहीं होती है। ३. वह सदा श्रुतानुसार सत्य निर्णय करने वाला बन जाता है तथा ४. वह भगवान् के शासन का

अवलंबन भूत बन जाता है। ५. जिससे उसको महान् निर्जरा लाभ और मुक्ति लाभ होता है।

(२०) सूत्रार्थ के विषय में प्रश्न पूछकर समाधान प्राप्त करने से—१. सूत्रार्थ ज्ञान की विशुद्धि होती है। २. संशयों का निराकरण हो जाता है फलतः मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

(२१) सूत्रों की परावर्तना करने से—१. स्मृति की पुष्टि होती है २. भूला हुआ ज्ञान स्थिर हो जाता है। ३. पदानुसारिणि बुद्धि का विकाश हो जाता है। अर्थात् एक पद के उच्चारण से अगला पद स्वतः याद आ जाता है।

(२२) सूत्रांतरगत तत्वों की मन में विचारणा चिंतवना करने से--१. कर्म शिथिल बनते हैं, संक्षिप्त होते हैं, मंद हो जाते है। और अल्प हो जाते हैं २ कर्म बंध से और संसार से शीघ्र मुक्ति हो जाती है।

(२३) धर्मोपदेश देने से--१ स्वयं के कर्मों की महान् निर्जरा होती है। २. और जिन शासन की भी महति प्रभावना होती है। ३. आगामी भावों में महा भाग्यशाली होने के कर्मों का उपार्जन करता है।

(२४) श्रुत की सम्यक् आराधना करने से—१. अज्ञान का क्षय हो जाता है और २. वह ज्ञानी कहीं भी संक्लेश—चित्त की असमाधि नहीं पाता है।

(२५) मन को एकाग्र करने से--चित की चंचलता समाप्त होती है।

(२६) संयम लेने से—प्रमुख आश्रव-कर्म आने के रास्ते बंद हो जाते हैं अर्थात् हिंसादि बड़े बड़े पापों का लगभग पूर्णतया त्याग हो जाता है।

(२७) विविध (१२ प्रकार की) तपस्या करने से--**पूर्व-बद्ध कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं।**

(२८) अल्पकर्मा हो जाने से--**वह क्रमशः योग निरोध अवस्था को प्राप्त करता है। फिर शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।**

(२९) शान्तिपूर्वक अर्थात् उतावल उद्वेग के बिना मन वचन एवं काया की प्रवृति करने से--**१. जीव उत्सुकता रहित एवं शान्ति प्रिय स्वभाव और व्यवहार वाला बनता है। २. शान्ति पूर्वक प्रवृति करने वाला ही वास्तव में प्राणियों की पूर्ण अनुकंपा कर सकता है। ३. ऐसा वह अनुकंपा पालक साधक, हाय हाय और भड़ाभड़ युक्त प्रवृतिएं नहीं करता है। ४. जिससे वह शोक मुक्त रहता है और ५. चारित्र मोह कर्मों का विशेष रूप से क्षय करता है।**

(३०) मन की अनाशक्ति हो जाने से--**१. प्राणी बाह्य संसर्गों से और उससे उत्पन्न होने वाली परिणतियों से मुक्त हो जाता है। २. ऐसा साधक सदा एकत्व भाव में ही तल्लीन बन उसी में दत्तचित्त रहता है। ३. और वह रात दिन (प्रतिक्षण) प्रतिबंधों से रहित होकर आत्म भावों में रहता है एवं अप्रमत्त भावों से युक्त रहकर सदा अंतर्मुखी रहता है।**

(३१) जनाकुलता एवं स्त्री आदि से रहित एकान्त स्थान के सेवन से--**१. चारित्र की रक्षा होती है। २. ऐसा चारित्र रक्षक साधक पौष्टिक आहार का त्याग करता है। ३. दृढ़ चारित्र वाला बनता है। ४. एकान्त में ही रमण करने वाला होता है। ५. अंतः-करण से मोक्ष पथिक बन कर कर्मों की गांठ को तोड़ देता है।**

(३२) इन्द्रियों और मन को विषयों से दूर रखने से--**१. जीव नये-नये पाप कर्म नहीं करने में ही तत्पर रहता है अर्थात्**

वह पापाचरण करने में उत्साह रहित हो जाता है २. एवं पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करके संसार अटवी को पार कर मुक्त हो जाता है।

(३३) सामुहिक आहार पानी का त्याग करने से--१. श्रमण परावलंबन से मुक्त होता है २. स्वावलंबी बनता है ३. वह स्वयं के लाभ से संतुष्ट रहने में अभ्यस्त हो जाता है और ४. परलाभ की आशाओं से मुक्त हो जाता है। ५. संयम ग्रहण करना इस जीवन की प्रथम सुख शय्या है तो उसमें सामुहिक आहार का त्याग करना जीवन की दूसरी सुखशय्या है। अर्थात् संयम की साधना के साथ सामुहिक आहार का त्याग करके साधक अनुपम सुख समाधि प्राप्त करता है।

(३४) संयम जीवन में शरीरोपयोगी वस्त्रादि उपकरणों को अल्प करने या त्याग करने से--१. जीव को उस उपधि संबंधी लाना, रखना, संभालना, प्रतिलेखन, करना एवं समय पर उसके सम्बन्धी अनेक सुधार संस्कार आदि कार्यों के करने से मुक्ति मिलती है २. जिससे प्रमाद और विराधना घटती है। ३. स्वाध्याय की क्षति का बचाव होता है। ४. उपधि सम्बन्धी आकांक्षाए नहीं रहती है। ५. और ऐसे अभ्यस्त जीव को उपधि की अनुपलब्ध होने पर कभी संक्लेश नहीं होता है।

(३५) आहार का त्याग करते रहने से अथवा आहार को घटाते रहने से--१. जीने के मोह का क्रमशः छेदन होता है २. तथा वह जीव आहार की अनुपलब्धि होने पर संक्लेश को प्राप्त नहीं होती है किन्तु ३. उस परिस्थिति में भी प्रसन्नचित्त रह सकता है। ४. दीन नहीं बनता है।

(३६) कषायों के प्रत्याख्यान का अभ्यास करते रहने से--१. प्राणी वीतराग भाव के समकक्ष भावों की उपलब्धि करता है

२. ऐसा जीव सुख-दुःख दोनों अवस्था में समपरिणामी रहता है। अर्थात् हर्ष और शोक से वह अपनी आत्मा को अलग रख लेता है।

(३७) योग प्रवृत्तियों को अल्पमत करने या त्याग करने से- १. जीव योग रहित और आश्रव रहित अर्थात् २. कर्म बंध रहित अवस्था को प्राप्त करता है। ३. और पूर्व कर्मों का क्षय कर देता है।

(३८) शरीर का पूर्णतया त्याग कर देने से--१. प्राणी आत्मा को सिद्ध अवस्था के गुणों से युक्त बना लेता है एवं २. लोकाग्र में पहुंच कर आत्म स्वरुप में स्थिर हो जाता है। ३. जन्म मरण एवं संसार भ्रमण से सदा के लिए छूट जाता है।

(३९) किसी भी कार्य में दूसरों का सहयोग लेने का त्याग कर देने से अर्थात् समूह में रहते हुए भी अपना समस्त कार्य स्वयं करने रूप एकत्व चर्या में रहने से--१. साधक सदा एकत्व भाव में रमण करता है। २. एकत्व की साधना से अभ्यस्त हो जाता है। ३. अनेक प्रकार की अशान्ति से एवं कलह, कषाय, कोलाहल और तूं तूं आदि की प्रवृतियों से मुक्त हो जाता है। ४. तथा उसे संयम, संवर और समाधि की विशिष्टतम उपलब्धि होती है।

(४०) आजीवन अनशन करने से अर्थात् मृत्यु समय निकट जानकर स्वतः संथारा धारण कर लेने से—भव परम्परा की अल्पता हो जाती है अर्थात् वह प्राणी भव भ्रमण घटा कर अत्यल्प भवों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

(४१) संपूर्ण देहिक प्रवृत्तियों का निरोध करने से अर्थात् देह रहते हुए भी देहातीत बन जाने से--वह केवल ज्ञानी योग निरोध अवस्था को प्राप्त कर चार अघाति कर्म भी क्षय कर मुक्त हो जाता है।

(४२) वेश के अनुसार ही आचार विधि का ईमानदारी पूर्वक पालन करने से अथवा अचेलकता धारण करने से-१. साधक हल्के पन को प्राप्त करता है। २. स्पष्ट एवं विश्वस्त लिंग वाला होता है। ३. अप्रमत्त भावों की वृद्धि होती है। ४. वह साधक जितेन्द्रिय, समितिवंत एवं विपुल तप वाला हो जाता है। ४. सभी प्राणियों के लिए विश्वसनीय हो जाता है।

(४३) साधुओं की सेवा सुश्रुशा करने ने--तीर्थंकर नामकर्म बंध रुप पुण्योपार्जन होता है।

(४४) विनयादि सर्व गुणों से सम्पन्न हो जाने से--१. जीव उत्तरोत्तर मुक्ति गमन के निकट हो जाता है एवं २. शारीरिक मानसिक दुःखों का भागी नहीं बनता है।

(४५) वीतराग भावों में रमण करने से--१. जीव स्नेह एवं तृष्णा के अनुबंधनों से मुक्त हो जाता है और २. मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्द रूप आदि के संयोग होने पर भी सदा विरक्त भावों से निस्पृह बना रहता है।

(४६) क्षमा धारंण करने से--व्यक्ति कष्ट उपसर्ग एवं परीषहों के उपस्थित हो जाने पर दुःखी नहीं बनता अपितु परीषह जेता बनकर प्रसन्न रहता है।

(४७) निर्लोभी बनकर रहने से--१. प्राणी अकिंचन निष्परिग्रही और सच्चा फकीर बन जाता है। २. ऐसे सच्चे साधक से अर्थ लोलुपी लोग कुछ भी चाहना या याचना नहीं करते।

(४८) सरलता धारण करने से--१. भाषा में और काया में तथा भावों में सरलता एक-मेक बन जाती है। २. ऐसे व्यक्ति का जीवन विवाद रहित बन जाता है। ३. और वह धर्म का सच्चा आराधक बनता है।

(४९) मृदुता, लघुता, नरमाई, कोमलता के स्वभाव को धारण करने से--१. **जीव उद्धत भाव या उद्दण्ड स्वभाव वाला नहीं होता है।** २. **और वह व्यक्ति आठ प्रकार के मद (घमण्ड) के स्थानों का विनाश कर देता है।**

(५०) अंतरात्मा में सच्चाई धारण करने से--१. **जीव भावों की विशुद्धि को प्राप्त करता है।** २. **अर्हंत भाषित धर्म का और परलोक का आराधक होता है।**

(५१) ईमानदारी पूर्वक कार्य करने से--१. **जीव अपूर्व-अपूर्व कार्य करने की क्षमता को प्राप्त करता है।** २. **तथा उसकी कथनी और करणी एक हो जाती है।**

(५२) मन वचन और काया की सच्चाई धारण करने से--**जीव अपनी सभी प्रवृतियों को विशुद्ध करता है।**

(५३) मन का गोपन करने से अर्थात् अशुभ मन को रोक कर उसे शुभ रूप में परिणत करते रहने से—१. **जीव चित्त की एकाग्रता वाला बनता है।** २. **अशुभ संकल्पो से मन की रक्षा कर संयम की आराधना करता है।**

(५४) वचन का गोपन करने से, अर्थात् मौन व्रत धारण करने से—१. **जीव विचार सून्यता को प्राप्त करता है अर्थात् घाट घड़ों से मुक्त बनने में अग्रसर होता है** २. **और उसे आध्यात्म योग और शुभ ध्यान की प्राप्ति होती है।**

(५५) काया के गोपन से अर्थात् अंगोपांगों के संगोपन से—१. **कायिक स्थिरता को प्राप्त करता है।** २. **एवं पापाश्रवों का निरोध करता है।**

(५६) मन को आगम कथित भावों में भली-भांति लगाने से—१. **जीव एकाग्रता और ज्ञान की विशिष्ट क्षमता को प्राप्त**

करता है। २. तथा वह सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का क्षय करता है।

(५७) वाणी को स्वाध्याय में भली-भांति लगाने से--
१. भाषा से संबन्धित सम्यक्त्व के विषय की विशुद्धि होती है २. उसे सुलभ बोधि की प्राप्ति होती है और दुर्लभ बोधि का क्षय होता है।

(५८) संयम योगों में काया को भली-भांति लगाने से—
१. चारित्र की विशुद्धि होती है और सर्व दुःखों से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

(५९) आगम ज्ञान से सम्पन्न बनने से—१. साधक विशाल तत्वों का ज्ञाता बन जाता है। २. सूत्र ज्ञान से सम्पन्न जीव डोरे युक्त सूई के समान संसार में सुरक्षित रहता है अर्थात् कहीं भी खोता या भटकता नहीं है। २. सिद्धान्तों में कोविद बना हुआ वह ज्ञानी लोगों में प्रामाणिक एवं आलंबन भूत पुरुष माना जाता है।

(६०) जिन प्रवचन में गाढ श्रद्धा सम्पन्न होने से–१. प्राणी मिथ्यात्व का विच्छेद कर देता है एवं २. क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है अर्थात् उसका सम्यक्त्व रूपी दीपक कभी बुझता नहीं है। तथा वह ३. ज्ञान दर्शन की उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ अणुत्तर ज्ञान दर्शन प्राप्त करता है।

(६१) चारित्र से सुसम्पन्न बनने से--जीव शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर अंत में मोक्ष प्राप्त करता है।

(६२) पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने से—१. जीव मनोज्ञ अमनोज्ञ इन्द्रिय विषयों के उपस्थित होने पर भी राग द्वेष और कर्म बन्ध नहीं करता है।

(६३) चारों कषायों पर विजय प्राप्त कर लेने से-- १. साधक क्रमशः क्षमा, नरमाई, सरलता और निर्लोभता गुण से सम्पन्न बन जाता है। २ और तत्जन्य कर्म बन्ध नहीं करता हुआ पूर्व कर्मों का क्षय करता है।

(६४) राग-द्वेष और मिथ्यात्व पाप पर विजय प्राप्त करने से अर्थात् इन परिणामों का क्षय कर देने से-१. साधक रत्नत्रय की आराधना में उपस्थित होता है। २. फिर मोह, कर्म आदि का क्षय कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनता है। ३. उसके केवल दो समय की स्थिति वाले शाता वेदनीय का ही बंद होता है। ५. अंतमुहुर्त आयु शेष रहने पर केवली तीनों योग और श्वासोश्वास का निरोध करता है। ६. जिससे उसके आत्म प्रदेश शरीर के दो तिहाई अवगाहना में स्थित हो जाते है। अर्थात् फिर आत्म प्रदेशों का शरीर में भ्रमण भी बंद हो जाता है। ७. अंत में सम्पूर्ण कर्म क्षय करके एवं शरीर का त्याग करके वह जीव शास्वत सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

सम्यक् पराक्रम नामक-इस अध्ययन के इन स्थानों में साधक को यथा शक्ति यथा समय सम्यक् तथा पराक्रम करते ही रहना चाहिए। ऐसा करने से ही संयम में उपस्थित होने वाला वह साधक आत्म कल्याण साध कर सदा के लिए कृतकृत्य बन जाता है।

नोट—उत्तराध्ययन सूत्र के साथ यह सार देना किसी कारण वश छूट जाने से यहां आचारांग सूत्र के साथ दिया गया है। पाठक क्षमा करें।

संपादक—

प्रकाशनार्थ—

संकलन कर्त्ता—
आगम मनीषी तिलोकमुनि

आगमों का सारांश

आगम प्रेमी स्वाध्यायियों के लिए सुअवसर

जैन समाज के लिए अत्यन्त ही हर्ष का विषय है कि हमारे संपूर्ण आगमों में से एक एक आगम शास्त्र की एक-एक छोटी हिन्दी की पुस्तक प्रकाशित हो रही है। जो ४८–६० पृष्ठ तक की होगी। ये पुस्तकें बाल, युवा, स्त्री एवं पुरुषों सभी को आगम ज्ञान कराने में बहुत ही महत्व शील है।

इस आगम बतीसी का प्रकाशन सिरोही से आगम नवनीत प्रकाशन समिति करा रही है। इन पुस्तकों के प्राप्ति का स्थान एवं पत्र व्यवहार का पता इस प्रकार है—

१–श्री पुखराजजी जैन
के/ओ पंजाब नेशनल बैंक
पोस्ट सिरोही–३०७००१
(राजस्थान)

२–हनुमानलालजी टाइपिस्ट
मरुधर केशरी जैन भवन
राजामल का बाग
पोष्ट पुष्कर–३०५०२२
जिला-अजमेर (राज०)

आगम पुस्तकें भेंट दिलवाने वाले महानुभावों का २० प्रतिशत या ४० प्रतिशन छूट दी जाएगी एवं एक सेट का अग्रिम ग्राहक बनने पर ३७ प्रतिशत छूट दी जाएगी अर्थात् १६०/=रु० की पुस्तकों का अग्रिम ग्राहक का शुल्क केवल १००/=रु० रखा हैं।

आगम पुस्तकों का प्रकाशन शीघ्र पूर्ण हो इसके लिए उदार-मना श्रीमंत सुश्रावकों का सुकृत सहयोग इस प्रकार अपेक्षित है।

सुकृत सहयोगी स्तंभ–

(१) संस्थापक	—	५०००/=एवं इससे अधिक
(२) संरक्षक	—	२५००/=एवं इससे अधिक
(३) सहायक	—	१०००/=एवं इससे अधिक
(४) सदस्य	—	५००/=एवं इससे अधिक

अपनी तरफ से २५–५०–१००–२०० आदि संख्या में पुस्तकें भेंट भेजने की स्वीकृति ।

कृपया आप स्वयं अग्रिम ग्राहक अथवा सुकृत सहयोगी स्तंभ बने एवं अन्य को प्रेरणा करें ।

निवेदक—

हनुमानलाल टाइपिस्ट

पुष्कर–(राज०)

प्रकाशनार्थ—

श्रीमान् रामस्वरूपजी गर्ग का पत्र

जैन विश्व भारती लाडनू के सूचना केन्द्र अधिकारी श्रीमान् गर्ग सा. के पत्र का कुछ अंश इस प्रकार है—

उत्तराध्ययन पर संक्षिप्त विवेचनात्मक पुस्तिका देखकर चित्त प्रसन्न हो गया । इस तरह के सुन्दर प्रकाशन से भावी पीढी को संस्कारित करने तथा धर्म का बोध देने में बड़ी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है । मैं पुस्तक के प्रकाशक को इसके लिए हार्दिक बधाई देता हूँ ।

मुद्रण स्थान

सूचनाः—

(१) १०० रु० में पूरे सेट के अग्रिम ग्राहक बनने की सुविधा २५/६/९० तक ही है। उसके बाद पूरे सेट के १६०/= रु० लगेंगे।

(२) एक सूत्र की १०० से कम पुस्तक मंगाने पर प्रति पुस्तक ५/= रु० लगेगा।

(३) १. १०० पुस्तक पर १० प्रतिशत छूट।

२. १०० पुस्तक का आर्डर एवं राशि छपने के पूर्व प्राप्त होने पर २० प्रतिशत छूट।

३. अग्रिम ग्राहक आदि की राशि मनिआर्डर या ड्राफ्ट से तारीख २५/६/९० तक पुष्कर भेजें। उसके बाद सिरोही भेजें।

४. १००० पुस्तक भेंट का आर्डर और राशि प्रकाशन पूर्व प्राप्त होने पर ४० प्रतिशत छूट।

(४) संवत् २०४७ में ही ३२ आगम हिन्दी में संपूर्ण प्रकाशित एवं वितरित करने का प्रावधान है।

(५) गुजराती अनुवाद का प्रावधान अलग है। उसका प्रारम्भ सहयोग प्राप्त होने पर आधारित है।

(६) कवर पृ० ४ पर 'अपनी बात' ध्यान से पढें।

पत्र व्यवहार एवं मनिआर्डर आदि भेजने का पता—

हनुमानलाल प्रजापति टाइपिस्ट
श्री मरुधर केसरी जैन भवन
राजामल का बाग
पोस्ट पुष्कर ३०५०२२
जिला अजमेर (राजस्थान)

आगम नवनीत प्रकाशन समिति सिरोही

सुकृत सहयोगी स्तंभ–

१—संस्थापक – श्रीपुखराजजी मूलचन्दजी गोलेछा रायपुर (म.प्र.)

२—संरक्षक—सौभाग्यवती श्रीमतिशांताबाई आबूपर्वत

३—सहायक – १ श्री प्रकाशराजजी हिम्मतराजजी मोदी–सिरोही
२ श्री इंद्रमलजी ताराचन्दजी साकरिया–सुमेरपुर
३ श्री धनराजजी विनायकिया–ब्यावर

४—सदस्य—

१ सुरेन्द्रकुमारजी डांगी-सिरोही
२ पुखराजजी जैन–सिरोही
३ मदनराजी चौधरी-सिरोही
४ प्रकाशचन्दजी जैन-सिरोही (C.G.M.)
५ मदनराजजी कर्णावट- ,,
६ राजेन्द्र मेहता आबूपर्वत
७ प्रेमराजजी सुराणा-जोधपुर
८ श्रीचन्दजी मेहता–जोधपुर
९ इन्द्रमलजी पारख–सुमेरपुर
१० रामलालजी श्री श्रीमाल सोजत
११ धर्मीचन्दजी बंभ–ब्यावर
१२ नवरतनमलजी मूथा ब्यावर
१३ मदनराजजी हस्तीमलजी गूगलिया–पुष्कर
१४ अमरचन्दजी मोदी ब्यावर
१५ भंवरलालजी दांती–अहमदाबाद
१६ प्रेमचन्दजी लूणावत-हरमाड़ा
१७ गुप्तनाम
१८ गुप्तनाम

व्यवस्थापक—

पुखराज जैन–सिरोही

अपनी बात

जैन समाज में स्वाध्यायशील बन्धु अल्प समय निकालकर भी आगमों का स्वाध्याय करना चाहते है। आगम और उनके अर्थ अति विस्तार वाले होने से रूचि होते हुए भी कई आगम रसिक स्वाध्यायी आगमों के अध्ययन से वंचित रह जाते हैं। इसकी पूर्ति हेतु आगम प्रेमी श्रावक रत्न श्री विमल-कुमार जी नवलखा यत्र तत्र मुनिराजों की सेवामें आगमों का संक्षिप्त सारांश तैयार करने की प्रेरणा करने लगे।

उन्हीं से प्रेरणा पाकर पूज्य श्रमण श्रेष्ठ बहुश्रुत श्री समर्थमलजी म. सा. के पट्टधर शिष्य तपस्वीराज श्री चम्पालालजी म. सा. के प्रथम शिष्य नवज्ञान गच्छ के प्रमुख आगम मनीषी मुनि श्री तिलोकचन्द्रजी म. सा. ने परम पूज्यनीय पं० रत्न मुनि श्री कन्हैयालालजी म. सा. "कमल" की आज्ञा होने पर बड़ी लगन के साथ सूत्रों के सारांश तैयार किए। इसके लिए स्वाध्यायी समाज सदा आपका चिर ऋणि रहेगा।

ये संक्षिप्त सारांश पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी होने से इसके प्रकाशन हेतु सिरोही में आगम नवनीत प्रकाशन समिति की स्थापना की गई और आगम नवनीत माला पुष्प–१ से ३२ का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया।

सम्पन्न उदार महानुभावों से यह निवेदन है कि वे अर्थ सहयोग कर इस समिति की कार्य क्षमता में चार चांद लगावें। सुकृत सहयोगी दर– १. संस्थापक–५०००/=रु०, २. संरक्षक–२५००/= रु०, ३. सहायक–१०००/= रु०, ४. सदस्य–५००/= रु०, आगम प्रेमी ग्राहक–२००/= रु , एवं अग्रिम ग्राहक जून, १९९० तक १००/= रु०

विशेष:— इसका गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित करने का प्रयत्न है इसमें रुचि रखने वाले उदारमना श्रावक सम्पर्क करें।

— सम्पर्क सूत्र—

पुखराज जैन

पंजाब नेशनल बैंक सिरोही (राज.)